इकाई 12 भारत में भाषायी जातीयता

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

भारत में भाषायी जातीयता पर इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- भारत में भाषा के इतिहास के मुख्य पहलुओं के बारे में बता सकेंगे;
- भाषायी जातीयता के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के बारे में बता सकेंगे;
- डीएमके मूवमेंट की चर्चा कर सकेंगे;
- पंजाबी सूबा आंदोलन और अन्य भाषायी आंदोलनों पर रोशनी डाल सकेंगे; और
- भारत में जनजातीय भाषा आंदोलनों के बारे में बता सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

'जातीयता' शब्द का सबसे पहला प्रयोग 1953 में एक जातीय समूह की विशेषताओं या गुणों को बताने के लिए हुआ था। जातीय (एथनिक) समूह की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'एथनोस' से हुई जिसका अभिप्राय ऐसी जन श्रेणी से है जिसे उनकी संस्कृति, धर्म, नस्ल या भाषा के आधार पर अलग पहचाना जा सकता है। अपनी पहचान के लिए इनमें से किसी भी विशेषता का प्रयोग करने वाला जनसमूह जरूरी नहीं कि इन पहचान चिन्हकों को भेदभाव बरतने के लिए प्रयोग करे। इन श्रेणियों में सहभागी व्यक्ति अंत: समूह एकात्मता को

मजबूत करने के लिए इन प्रतिमानों को दृढ़ता से रख सकते हैं। इस प्रकार की साहचर्यता का एक बड़ा माध्यम भाषा है और एक ही बोली बोलने या भाषा का प्रयोग करने वाले जन-समूह को जो अंतर सामूहिक एकात्मता की भावना का एहसास होता है उसे ही हम भाषायी जातीयता कहते हैं। भारत में 1500 से ज्यादा मातृभाषाएं प्रचलित हैं। जैसा कि आप जानते हैं हिन्दी राष्ट्र भाषा है जिसके साथ संविधान की आठवीं अनुसूची के तहत अन्य 14 क्षेत्रीय भाषाओं को भी मान्यता दी गई है। अन्य भाषाओं को राजकीय भाषा का दर्जा नहीं दिया गया है। ऐसा अनुमान है कि 1000 या उससे अधिक व्यक्ति लगभग 105 भाषाएं बोलते हैं, ऐतिहासिक दृष्टि से भाषा विज्ञानियों में इस बात को लेकर सहमति नहीं है कि भारत में ठीक-ठाक कितनी भाषाएं बोली जाती हैं।

जॉर्ज क्रायर्सन ने भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया में 179 प्रमुख भाषाओं और 544 बोलियों के बारे में बताया है। पहला भाषायी जनगणना सर्वेक्षण उन्नीसवीं सदी में किया गया था जिसके अनुसार "भारत में हर 20 मील के बाद भाषा बदल" जाती है। फिर 1961 की जनगणना से पता चला कि भारत मे 1652 भाषाएं बोली जाती हैं जिनमें 1549 भाषाएं देशज हैं। ऐसा माना जाता है कि इन 1549 देशज भाषाओं में लगभग 572 भाषाओं को भारत की 99 प्रतिशत जनसंख्या बोलती है। भारतीय संविधान में जिन 15 भाषाओं को मान्यता दी गई है उनकी लगभग 387 बोलियां प्रचलित हैं और ऐसा कहा जाता है कि इन्हें भारत की 95 प्रतिशत जनता बोलती है। भारत के बहुभाषी चरित्र को स्वतंत्रता के बाद गठित राज्य पुनर्गठन आयोग ने स्वीकार किया था। भाषायी और सांस्कृतिक समरूपता के आधार पर राज्यों का गठन भारतीय लोकतांत्रिक राष्ट्र-राज्य की बहुभाषा प्रकृति की पुष्टि थी। इस आयोग के तहत 1956 तक आठ प्रमुख भाषा समूहों असमी, बंगाली, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, तेलुगु और तमिल को स्वतंत्र राज्यों का दर्जा दे दिया गया था। गुजराती और मराठी भाषा समूहों को 1966 तक स्वतंत्र राज्य का दर्जा दिया गया और फिर इसी वर्ष पंजाबी को भी राज्य की मान्यता मिल गई। वर्ष 1966 तक संस्कृत, उर्दू और सिंधी भाषाओं को छोड़कर पांच हिन्दी भाषी राज्यों समेत सभी मान्यताप्राप्त भाषाओं को राज्य का दर्जा मिल गया था। जाने या अनजाने में भाषा स्वतंत्र भारत में राज्यों के पुनर्गठन का वैध मानक बन गई।

12.2 भारत में भाषा का इतिहास

भारतीय जनजातियों का अध्ययन करने वाले नृवैज्ञानिक मानते हैं कि भारत के मूल वासी ऑस्टो-ऐशियाई मूल के हैं जिनका संबंध उपकुल मुडा से है। इनकी भाषाएं मोन-खमेर भाषा, विशेषकर वियतनामी भाषा से जुड़ी हैं, छोटा नागपुर से लेकर उत्तर पूर्व में हिन्द-चीन तक फैली हुई हैं। हिंद-यूरोपीय भाषाएं बोलने वाले आर्यों का भारत में आगमन 1500 ईसा पूर्व पश्चिमोत्तर दिशा से हुआ था। वैदिक काल (लगभग 1500-500 ईसा पूर्व) के आने तक उत्तरी भारत के अधिकांश भागों में संस्कृत बोली जाती थी। भारत पर मुस्लिम आक्रमण होने से पहले संस्कृत यहां कि आम भाषा बन गई थी जो अलग-अलग रूपों में बोली जाती थी। विभिन्न प्रकार के मध्य हिंद-आर्य भाषाओं के सबसे पुराने स्वरूपों, जिन्हें हम प्राकृत कहते हैं, का विकास इसी काल में हुआ। भाषाविदों का मानना है कि संस्कृत और ये सभी हिन्द आर्य प्राकृत भाषाएं उत्तरी भारत से लेकर दक्षिणी पठार तक बोली जाती थीं। द्रविड़ भाषाएं दक्षिणी पठार से नीचे दक्षिण भारत में बोली जाती थीं। भाषा इतिहासकार अक्सर हिन्द-आर्य उत्तरी भारत और द्रविड़ दक्षिण भारत के बीच एक गहरी खाई की बात करते हैं। अपनी विस्तृत सांस्कृतिक विरासत के फलस्वरूप भारत की भाषायी परंपरा समृद्ध हुई है। प्रमाणों के अनुसार तमिल में साहित्यिक उत्कृष्टता ईसा पूर्व दूसरी सदी औंर कन्नड़ में चौथी सदी-मलयालम में 10वीं सदीं और तेलुगु में सातवीं सदी से चली आ रही है। यहां ध्यान देने की एक रोचक बात यह है कि अंग्रेजी और जर्मन भाषा में लिखित दस्तावेजों के प्रमाण पांचवीं सदी से मिलते हैं। बौद्ध-धर्म की सबसे प्राचीन वंदना कार्यपद की रचना 1000 और 1200 ईसवी के बीच बंगाली, असमी और उड़िया भाषाओं में की गई थी।

भारत में मुस्लिम शासन का आरंभ होने से पहले संस्कृत और अन्य क्षेत्रीय भाषाएं ही राजकाज की भाषा थीं जिसके बाद इनकी जगह विशेषकर उत्तरी भारत में फारसी ने ले ली। राजनीतिक रूप से उपेक्षित रहने के बावजूद भी भारत की समृद्ध भाषायी विरासत भावनात्मक और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में जीवंत रहीं।

बॉक्स 12.01

शासन में उच्च पदों की आकांक्षा रखने वाले लोगों ने फारसी भाषा और फिर उसके परिवर्तित स्वरूप उर्दू को सीखा। राष्ट्रवादियों ने अपनी राष्ट्रवादी और देशभक्ति की जरूरतों के अनुरूप क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों में समृद्ध साहित्य का सृजन किया। मौखिक परंपरा ही प्रत्येक जातीय समूह के लिए अपनी समृद्ध सांस्कृतिक और भाषायी विरासत की रक्षा करने का एक महत्वपूर्ण जरिया बन गई। प्राच्य भाषाविद स्वीकार करते हैं कि भारत की मूल भाषाओं में जो साहित्य उपलब्ध है वह अंग्रेजी भाषा में सृजित साहित्य से कहीं ज्यादा समृद्ध है हालांकि दुनिया में बोल-बाला अंग्रेजी साहित्य का ही है। अंग्रेजी भाषा ने भारतीय सांस्कृतिक ताने-बाने में आधुनिकीकरण और सशक्तीकरण का वाहन बनकर प्रवेश किया। मगर स्वतंत्रता के पश्चात इसे शक्तिशाली और धनाढ्यों की भाषा के रूप में पेश किया गया। भाषायी दंगों के आरंभिक दौर में इसे स्वाभाविक स्वीकृति भी मिल गई।

12.3 भाषायी जनजातीयता और राज्यों का पुनर्गठन

प्रसिद्ध भाषाविद और एशियाई विषयों के सिद्ध विद्वान रॉबर्ट डी. किंग के विचार में भाषायी सीमाओं के अनुरूप राष्ट्र राज्यों की धारणा भौगोलिक राजनीति में एक नई घटना है जिसकी शुरुआत 19वीं सदी में हुई थी। किसी राष्ट्र का एक भाषी होना निश्चित ही लाभकारी हैं क्योंकि इससे संप्रेषण संवाद आसान हो जाता है। मगर यह कहना सही नहीं है कि बहुभाषी समाज अनिवार्यत: विखंडनशील होते हैं। समरूप और समांगी समाजों में अधिक राजनीतिक जीवनक्षमता और स्थायित्व होती है, इस मान्यता को भारत ने गलत सिद्ध कर दिखाया है जो एक लोकतांत्रिक राजनीतिक संघ में फूलने फलने में सक्षम रहा है। मगर इस प्रक्रिया में उसे कठिन समस्याओं से जुझना है। भाषायी जातीयता और इस सिद्धांत पर राज्यों का पुनर्गठन ऐसी ही विकट समस्या थी। स्वतंत्रता से पहले भारत में राज्य की सीमाएं मनमाने ढंग से तय की गई थीं। पंजाब, बंगाल और सिंध प्रांतों को छोड़कर कोई भी राज्य नृजातिवर्णन, संस्कृति, भाषा और उसके उपयोग धर्म या साझी जातीयता के किसी अन्य घटक पर आधारित ऐतिहासिक रचना के प्रतिमानों के अनुरूप नहीं था। अब मद्रास प्रेसीडेंसी को ही लें। इसकी सीमा दक्षिण-पूर्वी ढलान पर स्थित केप कैमोरिन से शुरू होकर पूर्व में जगन्नाथपुरी मंदिर तक फैली थी और बंगाल की खाड़ी और पश्चिम में मालाबार तट पर अरब सागर को छूती थी। इसमें ओड़िया, मलयालम, तेलुगु, तमिल और कन्नड़ जैसी प्रमुख भाषाएं बोली जाती थीं। यहां एक रोचक बात यह है कि मद्रास प्रेसीडेंसी की 60.3 प्रतिशत आबादी गैर तमिल भाषी थी। इसी प्रकार बंबई प्रेसीडेंसी में रहने वाले 57.2 प्रतिशत लोग मराठी से अलग भाषाएं बोलते थे जैसे गुजराती, सिंधी और कन्नड़। बंगाल प्रेसीडेंसी में 70.000.000 लोग रहते थे जिनमें आज के बिहार और उड़ीसा राज्य भी शामिल थे और जिसकी सीमा पश्चिमोत्तर में सतलज नदी तक फैली थी। लार्ड कर्जन ने बंगाल प्रेसीडेंसी को दो भागों में बांटकर पूर्वी बंगाल और असम प्रांत बनाया, जिसकी आबादी लगभग 31,000,000 थी। इस प्रांत में बोली जाने वाली मुख्य भाषाएं बंगाली और असमी थीं। दूसरा प्रांत पश्चिम बंगाल, उड़ीसा और बिहार थे जिनमें मुख्यत: बंगाली, हिंदी और ओड़िया भाषाएं बोली जाती थीं। इतिहासकारों का मानना था कि बंगाल का विभाजन देखने में तो प्रशासनिक कारणों से किया गया था लेकिन इसके मूल में एक मुस्लिम बहुल पूर्वी बंगाल और एक हिंदू बहुल पश्चिम बंगाल बनाने का उद्देश्य था। इस तरह के पुनर्गठन में धार्मिक जातीयता को प्रमुखता दी गई और भाषायी घटकों के प्रसिद्ध नृविज्ञानी हरबर्ट राइजली का कहना था कि इससे ओड़िया भाषा की समस्या का समाधान हो गया। भारत सरकार द्वारा वर्ष 1955 में गठित किए गए राज्य पुनर्गठन आयोग का कहना है:

"इन मौकों पर भाषायी सिद्धांत का प्रयोग महज प्रशासनिक सुविधा के लिए किया गया उसी हद तक जहां तक यह राजनीतिक जरूरतों से निर्धारित सामान्य पैटर्न में सही जांचा। बल्कि वास्तविकता यह थी कि बंगाल के विभाजन में भाषायी बंधुता की भारी अवहेलना की गई। सन् 1912 के बंदोबस्त में भी भाषायी सिद्धांत की अवहेलना ही की गई क्योंकि इसने बंगाली मुसलमानों और बंगाली हिंदुओं के बीच एक विभाजन रेखा खींच दी थी। इस तरह ये दोनों विभाजन इस धारणा के प्रतिकूल थे कि विभिन्न भाषायी समूह सामाजिक भावना की विशिष्ट इकाइयां हैं जिनके साझे राजनीतिक और आर्थिक हित होते हैं।"

12.3.1 भाषायी जातीयता और राज्य

ब्रिटिश शासकों ने राज्य के राजनीतिक गठन में भाषायी जातीयता को कभी नहीं जाना। दरअसल, अंग्रेजों के आने से पहले और भारत में उनका शासन स्थापित हो जाने पर भी देश के अधिकतर राज्य अमूमन ऐतिहासिक घटनाएं मात्र थे। बहरहाल, जाने-अनजाने बंगाल का पुनर्गठन आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस द्वारा भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की नीति को बढ़ावा देने का बहाना बन गया। इसी के फलस्वरूप 1918 में मोंटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने भारत में भाषायी आंदोलनों की उपस्थिति को पहली बार स्वीकार किया। मगर इस प्रतिमानात्मक परिवर्तन के बावजूद भारत सरकार के अधिनियम 1919 में क्षेत्रीय भाषाओं के प्रोत्साहन के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाए गए। महात्मा गांधी ने 1920 में भाषायी आधार पर प्रांतों के गठन का समर्थन किया हालांकि उन्हें यह आंशका भी थी कि इस तरह से भाषायी प्रांतों के गठन की पैरवी करना कहीं हिन्दुस्तानी के प्रचार प्रसार में बाधक न बन जाए क्योंकि वह इसे राष्ट्र भाषा बनाना चाहते थे। बहरहाल, गांधी की इस रणनीतिक सहमति के बाद नेहरू की स्वीकृति के फलस्वरूप काँग्रेस का पुनर्गठन भाषायी प्रांतों के आधार पर कर लिया गया। इस प्रकार 21 प्रांतीय काँग्रेस कमेटियां बनाई गईं। फिर 1927 में काँग्रेस ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें आंध्र, उत्कल (उड़ीसा), सिंध और कर्नाटक के लिए अलग-अलग भाषायी प्रांतों के गठन करने की मांग सरकार से की गई।

बॉक्स 12.02

कांग्रेस के 1927 के प्रस्ताव के दस वर्ष बाद जाकर नेहरू ने भाषायी राज्यों के विचार को स्वीकार किया। इससे पहले सर्वदलीय सम्मेलन की रिपोर्ट में भाषा को एक विशिष्ट प्रकार की संस्कृति, साहित्य और परंपरा के समकक्ष, उसके तदनुरूप मान लिया गया था। इसमें यह भी कहा गया कि एक भाषायी क्षेत्र में ये कारक यानी संस्कृति, साहित्य और परंपरा उस प्रांत की सामान्य प्रगाति में सहायक होंगे। इस तरह की स्वीकृतियां भारत की आजादी के पहले और आंरभिक स्वातंत्रयोत्तर इतिहास में एक सामाजिक आंदोलन के रूप में भाषायी जातीयता के उदय की शुरुआत थी। अंग्रेजों ने 1930 में जाकर भाषायी आंदोलनों और उनके राजनीतिक महत्व को समझना शुरू किया। उड़ीसा प्रांत का गठन अक्सर भारत में पहले भाषायी आंदोलन की सफलता कहा जाता है। इसे संयुक्त संसदीय समिति (सत्र 1932-33) की सहमति प्राप्त थी। पर अनेक इतिहासकारों का मानना है कि उड़ीसा का गठन भाषायी कारणों से नहीं किया गया था, बल्कि इसे हिंदू भावनाओं की तुष्टि के लिए बनाया गया था। वहीं सिंध प्रांत को सिंधी भाषी लोगों के लिए नहीं बल्कि बहुसंख्यक मुस्लिम भावनाओं को तुष्ट करने के लिए बनाया गया था।

बहरहाल, कांग्रेस ने भाषायी प्रांतों की नीति को जारी रखा और आंध्र और कर्नाटक के लिए दो और प्रांतों के गठन की मांग रखी। इसके बाद 1938 में मलयालम भाषी लोगों के लिए एक स्वायत्त भाषायी प्रांत-केरल का गठन करने की मांग रखी गई। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भाषायी प्रांतों की मांग कुछ समय के लिए थम गई। मगर 1945-46 में अपने चुनावी घोषणापत्र में काँग्रेस ने फिर इस विचार को छोड़ दिया कि प्रशासनिक इकाइयों का गठन यथासंभव भाषायी और सांस्कृतिक आधार पर हो। औपनिवेशिक शासन के खत्म हो जाने के बाद कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों ने भाषायी आधार पर राज्य बनाने की व्याख्या करते हुए कहा है कि इनके पीछे प्रछन्न और गुप्त इरादे थे। रॉबर्ट डी. किंग के अनुसार, "भाषायी प्रांतों के गठन की मांग के पीछे जो भावनाएं काम कर रही थीं उनका संबंध भाषा से कम बल्कि जाति और सांप्रदायिक वैमनस्य, विशेषाधिकारों के लिए आपसी संघर्ष से ज्यादा था।"

12.3.2 भाषा और आधुनिकीकरण

एक राष्ट्र-राज्य के रूप में भारत को अपने शुरुआती दौर में इस जटिल समस्या से जुझना पड़ा था कि वह शासन चलाने के लिए ऐसी कौन सी आम भाषा चुने जिससे अन्य भाषाओं की निजी, महत्ता, उनकी प्रतिष्ठा को ठेस नहीं पहुंचे। भारतीय संविधान ने 1950 में हिंदी को देश की राजकीय भाषा का दर्जा दिया, उधर अंग्रेजी सरकारी अकादमी और व्यापारिक कामकाज की भाषा बनी रही। संविधान में अंग्रेजी को सरकारी प्रयोजनों के लिए संघ की भाषा के रूप में बने रहने के लिए 15 वर्ष का समय दिया गया। मगर अंग्रेजी को जनमानस ने आधुनिकीकरण और वैश्विक भागीदारी का एक सशक्त माध्यम के रूप में

देखा। यही कारण है कि जबर्दस्त भाषायी जातीयतावादी लोग भी अपनी भाषायी जातीयता के प्रति कोई पुर्वाग्रह रखे बिना अंग्रेजी की लोकप्रियता और उसके चलन के कायल हैं। मगर वहीं द्रविड़ भारतवासी विशेषकर तमिल भाषी लोग हिंदी विरोधी थे। भारतीय राष्ट्र राज्य ने जब हिंदी को भारतीय राष्ट्रवाद और देशभक्ति के प्रतीक के रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न किया तो इसने जन विद्रोह को भड़का दिया। आर.एन.श्रीवास्तव के अनुसार, दक्षिणी राज्यों में पहले द्रविड़ कड़गम और फिर द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डीएमके) कट्टर और ऊर्जावान धर्म-विरोधी भावनाओं के उफान की एक कड़ी मात्र थे। इस आंदोलन के सूत्रधार ई.वी. रामास्वामी नैकर थे जिन्हें बाद में पेरियार के नाम से पुकारा जाने लगा। उन्होंने 1925 में "आत्मसम्मान आंदोलन" की शुरुआत की। 1938 में उन्होंने हिन्दी विरोधी आंदोलन छेड़ा जिसके दौरान जस्टिस पार्टी इनके आत्मसम्मान आंदोलन से जुड़ गई। इसके बाद 1944 में दोनों ने मिलकर द्रविड़ कड़गम की स्थापना की, जिसने हिंदी विरोधी और ब्राह्मण विरोधी आंदोलन का नेतृत्व किया। द्रविड़ कड़गम ने 25 दिसंबर 1974 को रावण लीला का आयोजन किया जिसमें राम, लक्ष्मण और सीता के पुतले फुंके गए। इससे पहले वर्ष 1956 में तेलुगु अकादमी ने मद्रास में एक भाषा सम्मेलन बुलाया जिसमें दक्षिण में हिंदी थोपने पर बड़ा जबर्दस्त विरोध प्रकट किया गया। फिर 1958 में राजागोपालाचारी के नेतृत्व में एक अखिल भारतीय भाषा सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में फ्रैंक एंथनी ने घोषणा की: "आज हिन्दी सांप्रदायिकता का प्रतीक है, यह धर्म का प्रतीक है, यह भाषा अतिवादिता है और सबसे बढ़कर यह अलसंख्यक भाषाओं के दमन का प्रतीक है।" वहीं राजागोपालाचारी ने भी इस सम्मेलन में कहा: "हिन्दी गैर-हिन्दी भाषियों के लिए उतनी ही पराई भाषा है जितनी पराई अंग्रेजी भाषा हिन्दी के पैरोकारों के लिए है।" इस हिन्दी विरोधी आंदोलन का नेतृत्व करते हुए डीएमके (द्रविड़ मुनेत्र कड़गम) ने 17 जनवरी 1965 को मद्रास में एक हिन्दी-विरोधी सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में 26 जनवरी 1965 को शोक दिवस मनाने की घोषणा की। इसके बाद आंदोलन उग्र और हिंसक हो गया जिसमें छात्रों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। छात्रों ने तमिलनाडु स्टुडेंट्स ऐंटी-हिन्दी एजीटेशन काउंसिल (तमिलनाडु छात्र हिन्दी-विरोधी आंदोलन परिषद्) का गठन किया, जिसके आह्वान पर मद्रास कॉलेज के पचास हजार से अधिक छात्रों ने प्रदर्शन किया। इस प्रकार समूचे दक्षिण भारत में हिन्दी-विरोधी प्रदर्शन हुए। इसी दौरान दो छात्रों ने आत्मदाह कर लिया जिससे आंदोलन हिंसक और उग्र हो गया जिनमें 70 लोग मारे गए। इसके फलस्वरूप भारत सरकार ने 1967 में राजकीय भाषा संशोधन अधिनियम संसद में पारित कराया। यह अधिनियम द्विभाषा सिद्धांत पर आधारित है जिसके अनुसार राज्यों को सरकारी काम-काज अंग्रेर्जी या हिन्दी में चलाने की छूट है। जैसे: (क) प्रस्ताव, सामान्य आदेश नियम, अधिसूचना इत्यादि (ख) प्रशासनिक और अन्य रिपोर्टों और (ग) अनुबंध समझौतों, लाइसेंस, निविदा प्रपत्रों इत्यादि में दोनों में से कोई भी भाषा प्रयोग की जा सकती है। इसी अधिनियम के तहत हिन्दी में प्रदत्त सामग्री को अंग्रेजी में अनुवाद करने का प्रावधान भी किया गया।

अभ्यास 1

भाषा का मुद्दा आखिर इस तरह की भावनाओं को क्यों भड़काता है। अपने ऐसे सहपाठियों और मित्रों से इस विषय पर चर्चा कीजिए जो अलग-अलग भाषाएं बोलते हों और फिर इस चर्चा में आपको जो जानकारी मिलती है उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

12.4 द्रविड़ मुनेत्र कड़गम आंदोलन का जन्म

भाषा के मुद्दे पर उत्तर और दक्षिण के बीच विभाजन आंरभिक पश्चिमी विद्वानों जैसे रॉबर्टो डी मोबिली (1577-1656), कोंस्टेनियस बेशी (1680-1743) रेव. रॉबर्ट काल्डवेल (1819-1891) के समय से चला आ रहा है। इस सिद्धांत को गढ़ने का श्रेय मूलत: काल्डवेल को जाता है, कि संस्कृत को आर्य ब्राह्मण उपनिवेशक दक्षिण भारत लाए थे जिन्होंने ठेठ हिन्दुत्व को जन्म दिया जिसमें मूर्तिपूजा की जाती थी। तमिल भाषा को वहां के मूल वासियों ने ही विकसित किया जिन्हें ये ब्राह्मण आर्य लोग शूद्र कहकर बुलाते थे। इन सब में ब्राह्मणवादी वर्चस्व के चिन्ह हैं क्योंकि वहां के मूलवासी सरदार, सैनिक, किसान इत्यादि थे। आप्रवासी ब्राह्मण इन तमिल भाषियों को जीत नहीं पाए। इन विद्वानों ने तर्क दिया 'शूद्र' संबोधन को हटाकर उसकी स्थानीयता के अनुसार प्रत्येक द्रविड़ का नाम प्रयोग किया जाना चाहिए। (उर्सविक, 1969) इससे स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण में भाषायी जातीयता की जड़ें जातिगत राजनीति में हैं।

मद्रास के गवर्नर माउंटस्टुअर्ट एलफिन्स्टन ने 1866 में मद्रास कॉलेज के स्नातकों को एक अभिभाषण में कहा था: "हम यूरोपवासियों में नहीं बल्कि इन्हीं संस्कृतभाषी लोगों दक्षिणवासी नस्लों की गिनती राक्षसों में की थी। उन्हीं लोगों ने जानबूझकर वर्ण, रंग के आधार पर सामाजिक विभेद खड़े किए।" इन घटनाओं के आधार पर बारनेट निष्कर्ष निकालते हैं: "इस प्रकार गैर ब्राह्मणों की विचाराधारात्मक श्रेणी के बनने से पहले एक ऐसे द्रविड़ सांस्कृतिक इतिहास के बोध का जन्म हुआ जो दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों की संस्कृति से अलग, विशिष्ट और संभवत: उससे श्रेष्ठ थी।" इसी सांस्कृतिक इतिहास के बोध ने 1916 में साउथ इंडियन लिबरेशन फेडरेशन (जस्टिस पार्टी) को जन्म दिया। यह प्रतिक्रियावादी आंदोलन ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती देने के लिए शुरू हुआ था, उसके राजनीतिक संवाद की भाषा तमिल के बजाए अंग्रेजी थी। इसी से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि स्वतंत्रता के बाद दक्षिण भारत में हुए भाषा आंदोलन मूलत: हिन्दी विरोधी और अंग्रेजी समर्थक तो थे मगर वे अनिवार्यत: तमिल समर्थक नहीं थे।

बॉक्स 12.03

द्रविड़ पहचान का समर्थन ही इस आंदोलन का मुख्य ध्येय था। जस्टिस पार्टी ने अपने अंग्रेजी प्रकाशन *जस्टिस* और तमिल साप्ताहिक *द्रविड़ियन* के माध्यम से इस आंदोलन को फैलाया। उसने वर्णाश्रम और धर्म को अपनी आलोचना का निशाना बनाया और जब महात्मा गांधी ने हिन्दू धर्म में वर्णाश्रम व्यवस्था को उचित ठहराया तो उनकी तीखी आलोचना हुई। अभिजात सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं पर ब्राह्मणों के वर्चस्व ने दक्षिण भारत में ब्राह्मणों और गैर ब्राह्मणों के बीच मौजूद खाई को और गहरा किया।

बहरहाल, तमिल भाषा के महत्व का पता हमें *द्रविड़ियन* के 29 सितंबर 1920 अंक में छपे एक लेख से चलता है। इस लेख में एक तमिल विश्वविद्यालय की स्थापना के प्रस्ताव पर संतोष व्यक्त किया गया था। यह प्रस्ताव त्रिचुरापल्ली में हुए एक गैर ब्राह्मण सम्मेलन में पारित हुआ था। लेख में यह तर्क दिया गया था: "आजकल के विश्वविद्यालयों में तमिल को समुचित प्रोत्साहन नहीं दिया जाता और इन विश्वविद्यालयों में पदासीन प्रभावशाली विदेशी आर्यों ने ही तमिल भाषा की ऐसी दुर्दशा की है।" इस लेख का कहना था कि तमिल भाषी लोग तभी प्रगति और राज़नीतिक प्रभाव प्राप्त कर सकते हैं जब तमिल भाषा को मान्यता मिले।

इस प्रकार ही ब्राह्मण विरोधी भावनाओं को 1924 में ई. वी. रामास्वामी द्वारा सेल्फ रेस्पेक्ट लीग (आत्मसम्मान लीग) की स्थापना के बाद और मजबूती मिली। यह आत्म सम्मान आंदोलन एक सक्षम सांस्कृतिक विकल्प ढूंढने का प्रयास था। इस आंदोलन ने गैर ब्राह्मणों की सामाजिक और राजनीतिक चेतना को आमूलचूल बदल डाला। आत्मसम्मान आंदोलन की महत्ता कॉंग्रेस में व्यावहारिक राजनीति के उदय के साथ कम होती गई। फिर 1930 और 1940 के दशकों के दौरान गैर ब्राह्मण कॉंग्रेसी सक्रिय रहे क्योंकि उन्हें यह महसूस होने लगा था कि स्वतंत्र भारत में कॉंग्रेस ही राज करेगी। कम्मा और कप्पू जैसे अग्रणी गैर ब्राह्मण समुदाय कॉंग्रेस समर्थक थे। कॉंग्रेस ने 1936 में मद्रास प्रेसिडेंसी में चुनाव जीते जो 1935 के भारत सरकार अधिनियम के तहत हुए थे। इसके बाद सी. राजागोपालाचारी कॉंग्रेस की प्रांतीय सरकार के प्रीमियर नियुक्त हुए। यहीं से द्रविड़ आंदोलन ने जन्म लिया जिसका कारण कुछ स्कूलों में हिन्दुस्तानी को अनिवार्य विषय बनाया जाना था। *कुडी आरसू* विद्रोह और *जस्टिस* हिन्दी और हिन्दुस्तानी का 1920 के दशक से ही विरोध करते आ रहे थे जो उनकी दृष्टि से उत्तर की आर्य भाषाएं थी। इससे भाषा का मुद्दा गैर कॉंग्रेस दलों के लिए मोर्चाबंद होने का बहाना बन गया। इसके बाद 1938 में एक जबर्दस्त आंदोलन छिड़ गया। विरोधी राजनीतिक दलों ने प्रीमियर के घर के सामने धरना दिया। कुछ खास हाई स्कूलों के सामने जुलूस निकाले गए। इसके बाद कई सभाएं और प्रदर्शन हुए। इन प्रदर्शनों के दौरान सबसे उत्तेजक नारा यह लगाया जाता था: "ब्राह्मण राज खत्म हो" गृह विभाग ने 1939 में जो रिपोर्ट तैयार की थी उसके अनुसार इस आंदोलन के दौरान 536 व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया। लेकिन यह आंदोलन एक वर्ष बीतते-बीतते ठंडा पड़ गया। इस आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि इसने सी.एन.अन्नादुर्रे जैसे प्रवीण संगठनकर्ता और आंदोलनकारी को जन्म दिया वहीं ई.वी.रामास्वामी को नवंबर 1939 में आयोजित तमिलनाडु महिला सम्मेलन ने 'पेरियार' की उपाधि दी। मद्रास प्रेसीडेंसी के

तमिल भाषी उत्तरी आरकोट, सालेम, त्रिचुरापल्ली, तंजौर, मदुरै और रामनाड जिलों को मिलाकर 1 जुलाई 1939 को एक द्रविडनाडु निर्माण दिवस मनाने की घोषणा की गई। "द्रविड़ों के द्रविडनाड़" का यह नारा असल में ब्राह्मणवादी राजनीतिक प्रभुत्व और तमिल संस्कृति में आर्यों के विचारों की घुसपैठ के खिलाफ प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति थी। हिन्दुस्तानी विरोधी आंदोलन द्वितीय विश्व युद्ध के चलते समाप्त हो गया। इसी बीच काँग्रेस ने भारत छोड़ो आंदोलन छेड़ा और अंग्रेजों को युद्ध में सहायता देने से मना कर दिया। मगर दूसरी और ई.वी. रामास्वामी ने अंग्रेजों का खुलकर समर्थन किया। उन्होंने क्रिप्स कमीशन से मुलाकात करके उसके सामने एक पृथक द्रविड़नाड की मांग रखी। उन्होंने इस विषय पर जिन्ना और अंबेडकर से मुलाकात की। लेकिन 1939-1944 के बीच अपने तमाम प्रयासों के बावजूद रामास्वामी को द्रविड़ कड़गम की स्थापना होने तक लोगों से कोई विशेष समर्थन नहीं मिल पाया। बारनेट ने इस काल की घटनाओं पर बड़ी सटीक टिप्पणी की है: "द्रविड़ विचारधारा में आमूल परिवर्तन मुख्यत: 1930 के दशक में हुआ। लेकिन इसकी जड़ें ई. वी. रामास्वामी के प्रयासों में हैं जो 1924 में कुडी अरासू की स्थापना से शुरू हुए थे। तीस के दशक के दौरान काँग्रेस की बढ़ती लोकप्रियता, जो कि 1936 की चुनावी जीत से सिद्ध हो गई थी, और द्रविड़ आंदोलन में चरमपंथियों और मध्यमार्गियों के बीच मतभेदों के बावजूद 'द्रविड़' राजनीतिक पहचान प्रमुख बनी रही।

अभ्यास 2

क्या आप समझते हैं कि भाषा के आधार पर राज्य सही है? अपने सहपाठियों और मित्रों से इस पर चर्चा कीजिए और उसके निष्कर्ष को अपनी नोटबुक में लिखिए

12.4.1 द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का उदय

द्रविड़ कड़गम की स्थापना में 1944 सालेम में आयोजित जस्टिस पार्टी एक सम्मेलन में की गई थी। यूं तो रामास्वामी जस्टिस पार्टी के अध्यक्ष 1938 से थे लेकिन हिन्दुस्तानी विरोधी आंदोलन के दौरान उन्हें जब जेल भेज दिया गया तो वे आंदोलन के लिए अपेक्षित जनसमर्थन नहीं जुटा पाए। मगर जस्टिस पार्टी के द्रविड़ कड़गम में बदल जाने से अन्नादुरै का पार्टी के राजनीतिक एजेंडे पर प्रभाव स्पष्ट हो गया। अन्नादुरै ने यह जान लिया था कि जस्टिस पार्टी का कोई जनाधार नहीं था क्योंकि उसे धनाढ्यों की पार्टी समझा जाता था। अन्नादुरै ने जनसाधारण में ब्रिटिश विरोधी भावनाओं के जगाने का प्रयत्न किया जिसे द्रविड़ कड़गम की लोकप्रियता बढ़ी मगर भारत के स्वतंत्रता दिवस 15 अगस्त 1947 को रामास्वामी और अन्नादुरै में मतभेद गहरे हो गए। इसके फलस्वरूप द्रविड़ कड़गम में औपचारिक विभाजन हो गया। इस प्रकार अन्नादुरै के नेतृत्व में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डीएमके) एक राजनीतिक दल के रूप में उभरा द्रविड़ कड़गम (डीएम) के लगभग 75,000 सदस्य उनके दल में शामिल हो गए। हालांकि दोनों दलों का एजेंडा वही रहा। सी. अनादुरै ने जब *आर्यन इल्यूजन* के नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की तो इससे उनकी राजनीतिक लोकप्रियता में बड़ी उछाल आई। बाद में भारत सरकार ने 1952 में इस पुस्तक को उत्तेजक और भड़काऊ बताकर प्रतिबंधित कर दिया गया।

12.4.2 सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा की भूमिका

जुलाई 1952 में कांग्रेस सरकार के मुख्यमंत्री सी. राजगोपालाचारी ने सार्वजनीक प्राथमिक शिक्षा की योजना चालू की। इस योजना के तहत बच्चों को आधे दिन तक अपने स्कूलों में पढ़ाई करनी थी और शेष आधा दिन अपने पारंपारिक धंधों पर लगना था। इस पर डीएमके ने जातिगत शिक्षा का ठप्पा लगाया और एक जबर्दस्त आंदोलन छेड़ दिया। इस के साथ-साथ डीएमके ने त्रिची जिले के डालमियापुरम का नाम बदलकर कलाकुडी रखने की मांग भी की। इसकी मांग इसलिए उठाई गई क्योंकि डालमिया उत्तरी भारत के बड़े सीमेंट निर्माता थे। आजाद भारत में ये नई घटनाएं थीं जिनमें दक्षिण राज्यों में उत्तर के वर्चस्व को चुनौती दी जा रही थी। आंदोलन बड़ा उग्र और हिंसक था जिसमें नौ लोगों की मृत्यु हुई और सैकड़ों घायल हुए।

बॉक्स 12.04

इस काल में कांग्रेस के अंदर कामराज गुट भी तेजी से उभरा। ई.वी. रामास्वामी की सलाह पर कामराज 1954 में राज्य के मुख्यमंत्री बन गए। उन्हें रामास्वामी ने 'पक्का तमिझन' (सच्चा तमिल) कहा क्योंकि कामराज पिछड़ी जाति के थे। कामराज ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं थे और कांग्रेस के अन्य प्रतिष्ठित नेताओं की तरह धाराप्रवाह अंग्रेजी नहीं बोल पाते थे। उन्होंने 1954 से 1963 तक राज्य पर शासन किया और उन्हीं के शासनकाल में डीएमके ने अपना जनाधार बनाया।

इस आंदोलन में कई तमिल विद्वान शामिल थे। *मुरासोली, मामनाडू द्रविड़* और *मानराम* जैसे पार्टी समाचारपत्रों और पत्रिकाओं के प्रकाशन से तमिल साहित्य और भाषा में पुनर्जागरण का दौर आया। तमिल चेतना को फैलाने के लिए नाटक और अन्य लोक माध्यमों का प्रयोग किया गया। तमिलों की गरीबी और उनके मोहभंग को नाटकों के जरिए उजागर किया जाता था। ऐसे ही एक नाटक *परशक्ति* की रचना एम. करुणानिधि ने 1952 में की थी। इस नाटक में शिवाजी गणेशन जैसे कलाकार ने भूमिका निभाई थी। जनाकर्षण और जन संचार माध्यमों ने डीएमके की विचारधारा को घर-घर तक पहुंचाया। इन्हीं प्रभावों के तहत तमिल भाषा के मुद्दे ने 1965 में हिंसक मोड़ लिया।

12.4.3 भाषा का मुद्दा

यह अब तक बेहद जटिल हो चला था। यह मुद्दा अब डीएमके की तमिल भाषा के प्रति चिंता और तमिल के हिंदी, संस्कृत या अंग्रेजी के प्रति विरोध के दायरे से बाहर निकल चुका था। इसमें अब छात्र राजनीति के तत्व शामिल हो चुके थे। क्षेत्रीय पहचान ने उपराष्ट्रवाद का स्वरूप धारण कर लिया था। डीएमके का कहना था कि हिंदी भाषा क्षेत्र देश का एक छोटा सा हिस्सा भर है। एक क्षेत्रीय भाषा का वर्चस्व और सरकारी सेवाओं में भर्ती के लिए इसकी जानकारी अनिवार्य होने के कारण दक्षिण के छात्रों में भारी असुरक्षा की भावना घर कर गई। 26 जनवरी 1965 को हुए एक विरोध प्रदर्शन के दौरान डीएमके समर्थक एक छात्र ने आत्मदाह कर लिया। उसने कहा कि ऐसा वह हिंदी के विरोध में तमिल की बेदी पर अपने प्राण न्यौछावर करने के लिए कर रहा है। इसके बाद 12 फरवरी तक डीएमके के चार और समर्थकों ने भी आत्मदाह कर लिया। राज्य के छात्रों की नजर में ये आत्मदाह शहादत बन गई। डीएमके के नेता सी. अन्नादुरै ने हालांकि आत्मदाह की अन्य घटनाओं को राजनीति से प्रेरित बताते हुई इनकी भर्त्सना की लेकिन इन 'हिन्दी विरोधी शहीदों' ने छात्र नेतृत्व को वैधता प्रदान कर आंदोलन में व्यापक और खुली राजनीतिक भागीदारी के द्वार खोल दिए। इससे उत्साहित होकर तमिलनाडु छात्र हिंदी विरोधी आंदोलन परिषद् ने स्वतंत्र नजरिया रखने का फैसला कर लिया भले उसे डीएमके का समर्थन मिले या न मिले। पहली बार द्रविड़ सांस्कृतिक आंदोलन को डीएमके के बाहर से भी समर्थन मिला। कांग्रेस के कामकाज और डीएमके के अन्नादुरै दोनों ने कांग्रेस के राष्ट्रीय नेतृत्व से राज्य के छात्र समुदाय को फिर आश्वस्त करने का निवेदन किया कि पंडित नेहरू ने 1963 में अंग्रेजी का सहभाषा का दर्जा जारी रखने का जो आश्वासन. दिया था उसे तोड़ा नहीं जाएगा। इस आंदोलन के दौरान मद्रास शहर में 900 और मदुरै में 200 गिरफ्तारियां की गईं। मद्रास में सरकार ने 15 फरवरी तक सभाओं पर प्रतिबंध तक लगा दिया।

आठ फरवरी को स्कूल और कॉलेज फिर से खोल दिए गए लेकिन छात्रों ने छात्र हिंदी विरोधी परिषद् के आह्वान पर कक्षाओं का बहिष्कार किया। उन्होंने अब अंग्रेजी भाषा को सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में जारी रखने के लिए संविधान में संशोधन की मांग उठाई। 9 फरवरी को वकील भी उनके समर्थन में आंदोलन में कूद पड़े और उन्होंने अदालतों का बहिष्कार किया। इसके बाद फिर हिंसा भड़क उठी। त्रिची में एक बस फूंक दी गई, दो डाकघरों में तोड़-फोड़ हुई। अन्नादुरै की अपीलों को भी कोई नहीं सुन रहा था। 10 फरवरी से लेकर 12 फरवरी तक सरकारी भवनों, पुलिस थानों, ट्रेनों, बसों डाकघरों, कारखानों को लूटा और फूंक दिया गया। सरकारी आंकड़ों के अनुसार इस हिंसा में लगभग 70 लोग मारे गए जिनमें पुलिस की गोली से मरे तीन बच्चे भी शामिल थे। हजारों लोगों को गिरफ्तार किया गया। एक करोड़ की संपत्ति नष्ट हुई।

असामाजिक और अराजक तत्व भी इस हिंसक आंदोलन में कूद पड़े। मदुरै में पुलिस के दो सिपाहियों को भीड़ ने पीट-पीटकर मार डाला। इन सब घटनाओं में डीएमके की भूमिका किसी से छिपी नहीं थी हालांकि सार्वजनिक तौर इसके नेता हिंसा की निंदा करते नहीं थकते थे। इस हिंसा ने डीएमके की लोकप्रियता पर स्वीकृति की मुहर लगा दी, मगर वहीं इसने डीएमके के पतन का रास्ता भी खोल दिया। डीएमके को अब यह एहसास हो चला था कि वह एक चरमपंथी एजेंडे को ज्यादा समय तक बरकरार नहीं रख सकता जो कि अलगाववादी प्रवृत्तियों को लेकर चल रहा था। इसलिए इसके नेताओं को राजनीतिक स्वायत्तता के मुद्दे पर अपने नजरिए में नरमी लाने के लिए बाध्य होना पड़ा। मगर वहीं उसने भाषा के मुद्दे को जीवंत बनाए रखने की जरूरत को अनदेखा नहीं किया, जिसका सबसे उपयोगी जरिया तमिल हितों की रक्षा था। इसके लिए उसने वकील जैसे समाज के कानून पसंद लोगों को अपने आंदोलन की गति को बनाए रखने के लिए शामिल किया। इन सभी घटनाओं के मद्देनजर तत्कालीन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने पं. जवाहर लाल नेहरू के आश्वासन को दोहराते हुए 11 फरवरी 1965 को एक राष्ट्रीय प्रसारण में कहा: "एक अनिश्चित काल तक मैं अंग्रेजी को सहयोगी भाषा के रूप में ही रखूंगा क्योंकि मैं नहीं चाहता कि गैर हिंदी प्रदेशों के लोग यह समझें कि उनके लिए उन्नति के कुछ दरवाजे बंद कर दिए गए हैं जब तक लोगों को जरूरत पड़ेगी मैं इसे एक वैकल्पिक भाषा बनाए रखूंगा और यह निर्णय मैं उन पर नहीं छोड़ूंगा जो हिंदी भाषी हैं बल्कि उन पर छोड़ूंगा जो हिंदी भाषी नहीं हैं।"

12.4.4 भाषा के मुद्दे पर भारत सरकार की नीति

भाषा के मुद्दे पर प्रधानमंत्री शास्त्री ने निम्न नीतिगत निर्णय लिए:

i) प्रत्येक राज्य अपना कामकाज अपनी पसंदीदा भाषा या अंग्रेजी में चला सकता है।

ii) अंतरराज्यीय संवाद अंग्रेजी में हो या उसके साथ प्रामाणिक अनुवाद उपलब्ध कराया जाए।

iii) गैर हिंदी राज्य केन्द्र सरकार से अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

iv) केन्द्रीय सेवाओं के लिए भर्ती परीक्षाएं हालांकि अंग्रेजी में ही होती थीं, लेकिन 1960 में हिंदी में भी परीक्षाओं की अनुमति दे दी गई। इस सिलसिले में शास्त्री ने गैर हिंदी भाषी छात्रों को आश्वस्त किया कि सरकार हर कीमत पर उनके हितों की रक्षा करेगी।

बोध प्रश्न 1

1) भाषायी जातीयता और राज्यों के पुनर्गठन पर पांच से दस पंक्तियों में एक नोट लिखिए।

....

....

....

....

....

2) भाषा के मूद्दे पर डीएमके आंदोलन का वर्णन पांच से दस पंक्तियों में कीजिए।

....

....

....

....

....

प्रधानमंत्री शास्त्री के आश्वासनों से संतुष्ठ होकर हिंदी विरोधी आंदोलकारियों ने अपना आंदोलन 22 फरवरी को वापस ले लिया। इसके बाद आंदोलन के नेताओं ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि उनके एक

शांतिपूर्ण प्रदर्शन को असमाजिक-तत्वों ने अपने हाथ में ले लिया था। बहरहाल, इस आंदोलन ने राज्य में अपना राजनीतिक वर्चस्व बनाने के लिए डीएमके का रास्ता साफ कर दिया और 1967 में डीएमके चुनाव जीतकर राज्य में अपनी सरकार बना ली। डीएमके के शासनकाल में ही 27 नवंबर 1967 को लोकसभा में राजकीय भाषा अधिनियम 1963 की धारा 3 के लिए एक संशोधन विधेयक लाया गया। इस विधेयक में यह व्यवस्था की गई कि केन्द्र सरकार और गैर-हिंदी राज्य सरकारों के बीच कुछ खास कार्यों के लिए अंग्रेजी का प्रयोग होगा। इस विधेयक ने हिंदी भाषी राज्यों को अंग्रेजी के प्रयोग को समाप्त करने की स्वतंत्रता भी दे दी। डीएमके हालांकि चिंतित थी लेकिन उसने विधेयक को इस शर्त पर अपना समर्थन देने का निर्णय किया कि वह बिना किसी परिवर्तन के पारित किया जाए। जिसका मतलब यह था कि यह अंग्रेजी के प्रयोग को संवैधानिक अनुमति दे।

12.5 पंजाबी सूबा आंदोलन

उत्तर भारत में सबसे महत्वपूर्ण भाषायी आंदोलन के सूत्र हमें 1919 में मिलते हैं जब इस वर्ष दिसंबर में केन्द्रीय सिख लीग गठित की गई थी। इसके बाद 1920 में शिरोमणी अकाली दल का गठन हुआ जिसका उद्देश्य सिखों के धार्मिक स्थलों गुरद्वारों की रक्षा करना था। लेकिन शीघ्र ही यह सिख समुदाय के हितों के लिए लड़ने वाला एक जुझारु धार्मिक-राजनीतिक संगठन बन गया। मगर 1946 तक इसकी राजनीति में सांप्रदायिक रुख बिल्कुल स्पष्ट हो चला था। *रैडक्लिफ एवार्ड* की तर्ज पर 18 अगस्त 1947 को पंजाब को सांप्रदायिक आधार पर विभाजित कर दिया गया। इसके फलस्वरूप संयुक्त पंजाब में जिन हिन्दुओं की संख्या सिर्फ 30 प्रतिशत थी वे अब बहुसंख्यक हो गए और कुल जनसंख्या में उनका प्रतिशत 70 पहुंच गया। इसी प्रकार अविभाजित पंजाब में सिखों की संख्या 15 प्रतिशत थी। लेकिन अब उनकी संख्या भी 30 प्रतिशत हो गई थी और विभाजित पंजाब में वे सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समूह बन गए। मुसलमानों की संख्या घटकर बहुत कम हो गई। नवगठित पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों के कारण दक्षिण-पूर्वी जिलों में हिंदुओं का और मध्य जिलों में सिखों का जमाव बढ़ गया। इसके फलस्वरूप शरणार्थियों के बीच होने वाले छोटे-मोटे साधारण से झगड़े और तनावों ने साम्प्रदायिकता का रंग ले लिया। बसे हुए सिखों और आप्रवासी आबादी के बीच शहरी और ग्रामीण विभाजन भी उत्पन्न हो गया। स्थानीय हिंदुओं को ऐसा महसूस होने लगा कि पहले के पंजाब से आए लोग उनका शोषण कर रहे हैं।

पाकिस्तान से आए सिख और अधिकांश स्थानीय सिख अपनी जमीन से जुड़े थे। वे असल में ग्रामीण उद्यमी थे, अपनी मिट्टी से प्रेम करने के लिए प्रसिद्ध थे। सिख शरणार्थियों को विभाजन की मार सबसे ज्यादा झेलनी पड़ी थी। आसान पहचान होने के कारण उन्हें जान-माल का नुकसान सबसे ज्यादा उठाना पड़ा था। उनके अनेक गुरद्वारे और सांस्कृतिक केन्द्र पाकिस्तान में ही छूट गए। हिन्दू लोगों में शरणार्थी और मूल निवासी दोनों अमूमन व्यापारी थे, जिन्होंने कुछ परिश्रम करके अपने को फिर से बसा लिया। उनकी सांस्कृतिक जड़ें अक्षत थीं और वे एक अखिल हिंदू संस्कृति में आसानी से घुलमिल हो गए। विभाजन के शुरुआती दिनों में राजनीति उथल-पुथल भरी थी। जोतदार किसानों और शहरी सिखों ने कांग्रेस से नाता जोड़ लिया। अकाली दल के सिखों में राजनीतिक एकता लाने के तमाम प्रयास 18 मार्च 1948 को विफल हो गए जब सभी निर्वाचित सिख विधानसभा सदस्य कांग्रेस में शामिल हो गए। मगर अकाली नेतृत्व ने विधानसभा से बाहर सिख पहचान की रक्षा के लिए संघर्ष करना नहीं छोड़ा। भारत के संविधान को जब आखिरी रूप दिया जा रहा था तो अकाली दल ने गुरुमुखी लिपि में पंजाबी भाषा को मान्यता देने और सिखों के हितों की रक्षा के लिए संवैधानिक उपाय करने की मांग रखी।

बॉक्स 12.05

मास्टर तारा सिंह के कहने पर 15 नवंबर 1948 को 23 अकाली विधायकों ने कहा कि अगर उनकी मांगों में पांच संवैधानिक उपायों को स्वीकार नहीं किया गया तो उन्हें सात जिलों को मिलाकर अलग प्रांत बनाने की अनुमति दी जाए जिसमें लुधियाना, फिरोजपुर, अमृतसर, गुरुदासपुर, जालंधर और होशियरपुर ये सात जिले शामिल हों। उन्होंने पंजाब सूबे का वैकल्पिक नारा दिया। अप्रैल 1949 में हुए एक सिख सम्मेलन ने पंजाब सूबे को अपना परम लक्ष्य बना दिया। संविधानसभा ने सिखों के लिए अलग निर्वाचक-मंडल और सीटों को आरक्षित करने की मांग को ठुकरा दिया। पंजाबी भाषा को स्वीकार करने के लिए पंजाब के तत्कालीन मुख्यमंत्री भीम सिंह सच्चर ने एक फार्मूला निकाला, जिसके अनुसार प्रांत को दो मंडलों में बांटा गया–हिंदी भाषी और पंजाबी भाषी।

पंजाबी मंडल की भाषा गुरुमुखी लिपि वाली पंजाबी और देवनागरी लिपि वाली हिंदी भाषा हिंदी मंडल के लिए तय की गई। मगर राज्य को द्विभाषी बनाने के लिए जरूरी था कि लोग दोनों भाषाएं सीखें। यहां पर यह फार्मूला गड़बड़ा गया। आर्य समाज द्वारा चलाए जाने वाले स्कूलों ने इस फार्मूले को मानने से मना कर दिया। शीघ्र ही सच्चर ने समर्थन खो दिया और राज्य से अकालियों का मोहभंग और गहरा हो गया।

मास्टर तारा सिंह ने 10 अक्तूबर 1949 को घोषणा की कि सिखों की संस्कृति हिन्दुओं से भिन्न है। सिखों की भाषा, उनकी परंपराएं और उनका इतिहास भिन्न हैं, उनके नायक अलग हैं, उनकी सामाजिक व्यवस्था भिन्न हैं। तो भला वे अपने लिए आत्मनिर्णय का अधिकार क्यों न मांगे। (*अकाली पत्रिका* 11 अक्तूबर 1949)।

12.5.1 एक पृथक भाषा भाषी राज्य

अकाली नेता मास्टर तारा सिंह ने जुलाई 1950 से पंजाबी बोलने वाले और गुरुमुखी लिपि में लिखने वाले लोगों के लिए पृथक भाषा भाषी राज्य बनाने की मांग करना शुरू कर दिया था। वह कश्मीर की तर्ज पर ही इस राज्य के लिए आंतरिक स्वायत्तता भी चाहते थे। अकाली दल कार्य समिति के सदस्य हरचरण सिंह बाजवा द्वारा दर्ज ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि 1931 से 1960 के बीच एक भाषायी राज्य की मांग के पीछे दरअसल डॉ. अम्बेडकर की सलाह थी। कुछ अकाली नेताओं के अनुसार डॉ. अम्बेडकर ने उन्हें निम्न सुझाव दिया था:

अगर आप पाकिस्तान में रहते तो आप वहां अल्पसंख्यक बन जाते। संयुक्त पंजाब में आप सिर्फ दो तहसीलों को छोड़कर अल्पसंख्यक थे। ये तहसील भी एक दूसरे से जुड़े नहीं थे। उधर, पूर्वी पंजाब में भी आप अल्पसंख्यक हैं। अगर आप एक सिख राज्य की मांग करते हैं तो यह नक्कारखाने में तूती की आवाज होगी। आप पंजाबी भाषी राज्य की मांग क्यों नहीं करते? कांग्रेस तो भाषा के आधार पर राज्यों के पुर्नगठन के लिए प्रतिबद्ध है। इस मांग की पूर्ति को वह टाल तो सकते हैं लेकिन उसका लंबे समय विरोध नहीं कर सकते। आप 'पंजाबी सूबा' के नाम पर एक सिख राज्य पा सकते हैं।

चेन्नई में हिन्दी विरोधी प्रदर्शन
साभार : सुन्दरम

बाजवा के अनुसार, इस सुझाव ने एक वास्तविक सिख राज्य का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस आंदोलन को हिंदुओं के विरोध ने और हवा दी। इसका परिणाम यह रहा कि 1951 की जनगणना में पंजाबी बोलने वाले अधिकांश हिंदुओं ने हिन्दी को ही अपनी भाषा बताया। शहरी हिन्दू पंजाबी ने सिखों की "पंजाबी

सूबे" की मांग के बदले में पंजाब, पेप्सु, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली और उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों को मिलाकर एक महा पंजाब बनाने की मांग रखी। मगर पंजाब के दक्षिण-पूर्वी भाग में रहने वाले हिन्दू इस विचार से सहमत नहीं थे। वे अपना एक अलग राज्य चाहते थे।

अकाली दल ने पंजाबी सूबे के सीमांकन के लिए राज्य पुनर्गठन आयोग को 18 पन्ने का एक ज्ञापन दिया। उसने ग्रामीण सिखों का समर्थन भी जुटाया जिसके लिए उन्होंने सिख राजनीतिक भागीदारी के लिए धर्माज्ञा का आह्वान किया। राज्य पुनर्गठन आयोग ने अकाली दल की मांग को ठुकरा दिया। इसके बजाए पंजाब, पेप्सु और हिमाचल प्रदेश को एक प्रशासनिक इकाई में जोड़ने का फार्मूला रखा गया। मगर पंडित जवाहर लाल नेहरू के निजी हस्तक्षेप पर फरवरी 1956 को एक और क्षेत्रीय फार्मूला रखा गया:

i) इस फार्मूले के अनुसार, राज्य पुनर्गठन आयोग के विपरीत, हिमाचल प्रदेश को पंजाब से बाहर रखा जाना था। और पेप्सु को पंजाब में मिलाया जाना था।

ii) नए पंजाब राज्य की सीमाएं पंजाबी और हिंदी भाषी क्षेत्रों को मिलाकर बनाई जानी थीं और पंजाबी व हिंदी दोनों को राज्य की क्षेत्रीय भाषाओं का दर्जा दिया जाना था।

iii) पंजाब को एक द्विभाषी राज्य रहना था और पंजाबी (गुरुमुखी लिपि में) और हिंदी (देवनागरी लिपि में) राज्य की सरकारी भाषाएं बनने वाली थीं।

v) प्रशासनिक और विकास के उद्देश्य से दोनों क्षेत्रों के लिए दो क्षेत्रीय समितियों का गठन किया जाना था जिसके सदस्य दोनों क्षेत्रों के विधानसभा सदस्य और मंत्री होंगे। मगर प्रत्येक के मामले में अंतिम निर्णय राज्य मंत्रीमंडल के हाथों में होना था। क्षेत्रीय समितियों में मतभेद होने की स्थिति में अंतिम निर्णय लेने का अधिकार राज्यपाल को था।

12.5.2 नेहरू-मास्टर तारा समझौता

इस फॉर्मूले के बाद जवाहरलाल नेहरू और मास्टर तारा सिंह के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार अकाली दल कांग्रेस में शामिल हो गया। अकाली दल की कार्य समिति ने 30 सितंबर 1956 को घोषणा की: "दल पंथियों के शैक्षिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक हितों की रक्षा और उनकी उन्नति पर ध्यान देगा।" मगर यह फार्मूला भी शहरी पंजाबी हिंदुओं की उम्मीदों में खरा नहीं उतरा, बल्कि उन्हें लगा कि इससे उनकी शक्ति, उनका सत्ताधिकार कम हो गया है। पंजाबी हिंदुओं ने गुरुमुखी लिपि में पंजाबी हिंदुओं को पंजाबी की शिक्षा देने का विरोध किया। हालांकि उनका हिंदी बचाओ आंदोलन दिसंबर 1957 तक ठंडा पड़ गया था लेकिन पंजाब के तत्कालीन मुख्यमंत्री प्रताप सिंह कैरों ने इसके परिणामों को भांप लिया। इसलिए उन्होंने 15 सितंबर 1958 को क्षेत्रीय फार्मूले को लागू ही नहीं किया। सो, मास्टर तारा सिंह ने पंजाबी सूबे की मांग दुबारा उठाई। उधर, बंबई के महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों में विभाजन ने इस मांग पर वैधता की मुहर लगा दी।

अभ्यास 3

नेहरू और मास्टर तारा समझौता संतोषजनक क्यों नहीं था? अपने सहपाठियों के साथ इस पर चर्चा करें और जो निष्कर्ष निकले उन्हें अपनी नोटबुक में लिख लें।

बंबई के विभाजन के बाद पंजाब ही एक अकेला द्विभाषी राज्य बच गया था। इस नए समर्थन से उत्साहित होकर अकाली दल ने शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी का चुनाव 'पंजाबी सूबे' के मुद्दे पर लड़ा। इस चुनाव में उसने 139 सीटों में 132 सीटें जीतीं। 22 मई, 1960 को अमृतसर में एक पंजाबी सूबा सम्मेलन बुलाया गया जिसमें एक अलग पंजाबी भाषी राज्य की मांग की गई। इस मांग को अब स्वतंत्र पार्टी, संयुक्त समाजवादी पार्टी, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, सैफुद्दीन किचलू और पंडित सुंदर लाल जैसे सभी स्वतंत्रता सेनानियों ने समर्थन दिया। फिर मई 1960 में अलग पंजाबी राज्य के लिए एक आंदोलन छेड़ दिया गया। मास्टर तारा सिंह की गिरफ्तारी के बाद अकाली दल के उपाध्यक्ष फतेह सिंह ने नेतृत्व संभाल लिया। उन्होंने दावे से कहा कि वे एक पंजाबी भाषी राज्य चाहते हैं। सिखों में ज्यादातर हिंदू हैं या नहीं यह उनकी प्राथमिकता नहीं। इसके फलस्वरूप राजनीतिक समीकरण बदल गए। साम्यवादी अकालियों की मांग

का समर्थन करने लगे। इधर, कांग्रेस ने ग्रामीण सिखों में अपना जनाधार बढ़ा लिया था, उधर, जनसंघ भी शहरी हिंदुओं और शहरी सिखों के छोटे तबके में लोकप्रिय हो गया।

बॉक्स 12.06

पॉल ब्रास जैसे राजनीतिशास्त्री के अनुसार पंजाब में अभिजात वर्ग के उदय की प्रक्रिया ने ही पंजाब राज्य के आंदोलन को गति दी। इस दौर में अकाली दल में विभाजन भी हुआ। भारतीय राष्ट्र राज्य की सीमाओं के अंदर गठन पर मास्टर तारा सिंह और संत फतेह सिंह का नजरिया सही सिद्ध हुआ। 1962 में चीन के आक्रमण कर देने पर संत फतेह सिंह ने आंदोलन को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया। मगर 1964 में कैरों और पंडित नेहरू की मृत्यु हो जाने के बाद आंदोलन फिर से उभरा। लाल बहादुर शास्त्री की सरकार ने पंजाबी सूबे की मांग का विरोध करना जारी रखा। शास्त्री सरकार से वार्ता असफल हो जाने के बाद संत फतेह सिंह ने 16 अगस्त 1965 को अकाल तख्त से घोषणा की कि अगर उनकी मांग पूरी नहीं की गई तो वे 10 सितंबर से आमरण अनशन करेंगे। उन्होंने इस मुद्दे को यह कहकर भावनात्मक बनाया कि अगर वह इस अनशन में 15 दिन तक जीवित रह गए तो वे पंद्रहवें दिन आत्मदाह कर लेंगे। मगर 5 सितंबर 1965 को भारत और पाक युद्ध छिड़ गया जिसमें सिखों ने अपने शौर्य और वीरता का एक बार फिर परिचय दिया।

भारत-पाक में युद्ध विराम होने के बाद केन्द्र सरकार ने पंजाबी सूबे की मांग पर विचार करने के लिए एक तीन सदस्यीय कमेटी गठित की। वाई.बी. चह्वाण, श्रीमती इंदिरा गांधी और महावीर त्यागी इस कमेटी के सदस्य नियुक्त किए गए। इस कमेटी की सहायता के लिए लोकसभा के अध्यक्ष सरदार हुकुम सिंह की अध्यक्षता में एक 22 सदस्यीय संसदीय समिति भी बनाई गई। जनवरी 1966 में शास्त्री की मृत्यु के बाद श्रीमती इंदिरा गांधी ने कांग्रेस पार्टी की कार्य समिति की 9 मार्च 1966 को एक बैठक बुलाई। इस बैठक में एक प्रस्ताव पास हुआ जिसमें सरकार से एक पृथक पंजाबी भाषी राज्य बनाने का निवेदन किया गया था। इसके बाद 18 मार्च 1966 में संसदीय समिति ने भी इसी तर्ज पर प्रस्ताव पास किया। इन घटनाओं के बाद केन्द्र सरकार ने संसद में पंजाब राज्य के पुनर्गठन के लिए एक विधेयक रखा और न्यामूर्मि जे.सी. शाह की अध्यक्षता में पंजाब सीमा निर्धारण आयोग गठित किया। इस आयोग के अन्य सदस्य सुनिल दत्त और एम.एम. फिलिप थे। आखिरकार पहली नवंबर 1966 को राज्य को पंजाब और हरियाणा में विभाजित कर दिया गया। नवगठित राज्य में पूर्ववर्ती पंजाब राज्य का 41 प्रतिशत भाग और 55 प्रतिशत जनसंख्या थी। अब इसमें बहुसंख्य जनसंख्या सिख थी। भारत सरकार ने चंडीगढ़ को केन्द्रशासित बनाकर उसके साथ-साथ भाखड़ा और ब्यास बांध परियोजनाओं पर अपना नियंत्रण बनाए रखा। बहरहाल, अकाली नेतृत्व की अधिकांश आपत्तियां दूर हो गईं और अब ग्यारह जिलों में आठ में सिख बहुसंख्यक थे।

मगर भाषायी जातीयता के आधार पर पंजाब के पुनर्गठन से कई समस्याएं अनसुलझी रह गईं। जैसे, इस प्रक्रिया में कई पंजाबी भाषी क्षेत्र छूट गए। इसके अलावा इसने चंडीगढ़, नदियों के पानी के बंटवारे, अबोहर और फजिलका जैसे विवादों को जन्म दिया जिनके चलते 1980 के बाद कई विकराल समस्याएं उठ खड़ी हुईं जो अभी तक नहीं सुलझ पाई हैं। पंजाब के उदाहरण से हम यहां यह कह सकते हैं कि भारत में भाषायी जातीयता को धार्मिक, जाति और अन्य जातीयताओं के पूरक के रूप में प्रयोग किया गया है। इसने पुनर्गठन के एकनिष्ठ सिद्धांत के रूप में यहां कभी कार्य नहीं किया है।

12.6 भारत में अन्य भाषायी जातीयता आंदोलन

सुरेन्द्र गोपाल के अनुसार दसवीं सदी तक भारत में बुनियादी राष्ट्रीयताएं विकसित हो चुकी थीं। जैसे: असमी, ओड़िया, आंध्रा, पंजाबी, गुजराती, मराठा, बंगाली, कन्नडिगा, तमिल, मलयाली इत्यादि। वे कहते हैं कि ये राष्ट्रीयताएं उत्तर में यमुना-गंगा दोआब और मध्य भारत में बसीं थीं। ये राष्ट्रीयताएं अपने प्रादेशिक राज्यक्षेत्रों के अनुरूप शक्तिशाली भाषाई-जातीय समूह के रूप में उभरीं। गंगा-यमुना दोआब को आर्यावर्त कहा जाता था, जहां में बृज, अवधि, भोजपुरी, मैथिली और छत्तीसगढ़ी भाषाएं विकसित हुईं। राजनीतिक दृष्टि से आर्यावर्त का हमेशा महत्वपूर्ण स्थान रहा। मगर इसने एक शक्तिशाली जातीय-भाषाई पहचान का स्वरूप कभी धारण नहीं किया। भाषा आंदोलन सिर नहीं उठा पाया क्योंकि स्थानीय भाषाओं

को शाही संरक्षण नहीं मिला। कबीर, मलिक मोहम्मद जायसी, विद्यापति तुलसी और सूरदास जैसे संतों ने सूफी-संत परंपरा बना कर स्थानीय भाषाओं को जीवंत बनाए रखा। जातीय-भाषाई राष्ट्रीयताएं मुगल सम्राट के शासनकाल में फूली-फलीं। अकबर ने अपने साम्राज्य की सीमाएं अजमेर, लाहौर, गुजरात, बिहार, बंगाल इत्यादि प्रांतों में बढ़ाई। इस काल में राजपूत और जाट जातीय-भाषाई समूहों ने अपनी पहचान बनाई। उधर, शिवाजी के नेतृत्व में मराठा पहचान भारतीय प्रायद्वीप में मुगलों के आक्रमण के प्रत्युत्तर में विकसित हुई। इसी प्रकार कन्नड़ और तेलुगु पहचान बीजापुर और गोलकुंड राज्यों के अधिग्रहण के समय उभरी। पंजाब, बंगाल और मैसूर में शक्तिशाली जाती-भाषाई राष्ट्रीयताएं 18वीं सदी के अंत में विकसित हुईं। मुख्यत: इसी कारण से ब्रिटिशकालीन भारत में दो सबसे शक्तिशाली आंदोलन बंगाल और पंजाब में हुए। ये दोनों आंदोलनों के मूल में क्षेत्रीय आकांक्षाएं थीं। व्यापक स्वीकृति और वैधता पाने के लिए इन आंदोलनों ने राष्ट्रीय व स्वदेशी जामा पहना। पंजाबी जाटों को अंग्रेजों से लड़ने के लिए प्रेरित करने के लिए "पगड़ी संभालो जट्टा" जैसा नारा भाषाई एकात्मत्ता का प्रतीक था। इस भाषाई-जातीय एकात्मता ने हिंदू-मुस्लिम और सिखों को अपने आंचल में समेट लिया। पंजाबी राष्ट्रीयता के चलते ही अमेरिका में गदर पार्टी जैसा शक्तिशाली संगठन बना। इस काल में एक पृथक पंजाबी राष्ट्र राज्य की मांग कुछ समय तक उठी। इसी दौर में यूनियनिस्ट पार्टी ने ब्रिटिश सरकार की सहायता से पंजाब में अपनी सरकार बनाई। सिख जातीयता ने अपनी पहचान अकाली दल के नेतृत्व में बनाई। उधर, मुस्लिम जातीयता का विकास उर्दू के माध्यम से हुआ, जिसे धार्मिक और राष्ट्रीय पहचान स्थापित करने के लिए संपर्क भाषा के रूप में प्रयोग किया गया।

12.6.1 राज्यों का पुनर्गठन

स्वतंत्र भारत में भाषायी बंधुता के सिद्धांत पर राज्यों का जो पुनर्गठन हुआ उसने विशाल क्षेत्रीय प्रांतों को टुकड़ों में बांट दिया। मद्रास और मध्य प्रांत इसके उदाहरण हैं। इसी पैटर्न पर छोटे-छोटे राज्यों को जोड़कर एक किया गया, जैसे मध्य भारत, पटियाला और पूर्वी पंजाब को जोड़ा गया। मगर इस प्रक्रिया ने नवोदित प्रजातंत्र के विभिन्न अंचलों में भाषाई विद्वेष और तनाव को भी जन्म दिया। भाषाई राष्ट्रीयता की मांग के चलते ही बंबई का विभाजन महाराष्ट्र और गुजरात में हुआ, पंजाब का हिमाचल प्रदेश, हरियाणा और पंजाब में हुआ।

आंचलिक और भाषाई एकता के चलते ही क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उदय हुआ। डीएमके, तेलुगुदेशम, अकाली दल, असम गण परिषद, महाराष्ट्रवादी गोमांतक दल, गोरखा नेशनल लिबरेशन फ्रंट, झारखंड मुक्ति मोर्चा इत्यादि सभी दल प्रांतीय जातीय-भाषाई राष्ट्रीयताओं की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हैं। भाषाई राष्ट्रीयता के अंतरराष्ट्रीय पहलू बारंबार यही बताते हैं कि भारत ने भाषाई विविधता के मुद्दों को सफलतापूर्व सुलझा लिया है। मगर ऐतिहासिक प्ररिप्रेक्ष्य में गहराई से विश्लेषण करने से पता चलता है कि अगर अतीत में ये भाषाई आंदोलन हिंसक और उग्र थे तो कुछ क्षेत्रों में आज भी इसकी प्रबल अंतरधाराएं विद्यमान हैं।

12.7 जनजातीय भाषाई आंदोलन

वर्ष 1961 की जनगणतना के अनुसार, भारत में प्रचलित 1965 मातृभाषाओं में लगभग 500 भाषाएं जनजातीय अंचलों में बोली जाती हैं। संथाली, गोंडी और खासी इनमें सबसे बड़ी भाषाई समूह हैं। भारत के जनजातीय भाषाई समूहों को तीन वर्गों में बांटा गया है: (i) द्रविड़ (ii) ऑस्ट्रिक (iii) तिब्बती-चीनी। राज्य के ढांचे के पुनर्गठन की प्रक्रिया में जनजातीय भाषाओं की विविधता दब जाती है। उड़ीसा में भाषा की स्थिति की विस्तृत व्याख्या से यह स्पष्ट किया जा चुका है। उड़ीसा राज्य में 1961 की जनगणना के अनुसार उड़िया बोलने वाले लोगों की संख्या मात्र 1.5 करोड़ थी। वर्ष 1981 में हुई जनगणना में उड़ियाभाषी लोगों की भाषा की संख्या बढ़कर 3 करोड़ हो गई थी। जबकि खाड़िया और भूमिजी भाषी लोगों की संख्या (1961 और 1971 जनगणना के अनुसार) 1.4 लाख ओर 91,000 से घटकर 1981 की जनगणना में क्रमश: 49,000 और 28,208 रह गई थी। यह आश्चर्यजनक है कि भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में एक भी आदिवासी भाषा को मान्यता नहीं दी गई है, हालांकि भारत की आबादी का एक बड़ा हिस्सा इन भाषाओं को बोलता है। जैसे संथाली को 36 लाख लोग, भीली भाषा को 12.5 लाख लोग,

लाम्मी भाषा को 12 लाख लोग बोलते हैं। संविधान की आठवीं अनुसूची ने अनजाने में भाषाओं की जो क्रम-परंपरा स्थापित की है और त्रिभाषीय सूत्र के तहत राजकीय भाषा को राज्य से जो संरक्षण मिला है उसने हमारी मातृभूमि के मूल निवासियों को अलग-थलग कर दिया है। आदिवासियों में बढ़ती साक्षरता और शिक्षा से उनमें अपनी जातीय विशिष्टताओं को लेकर चेतना भी बढ़ रही है। इस जागरुकता के फ़लस्वरूप उनमें कुछ महत्वपूर्ण भाषाई-जातीयता के आंदोलन खड़े हुए हैं। हम यहां उनमें से सिर्फ तीन आंदोलनों के बारे में बता रहे हैं।

12.7.1 संथाली भाषा आंदोलन

संथाली पहचान के आंदोलनों का सिलसिला 19वीं सदी में खेरवाड़ आंदोलन से शुरू हुआ था। दरअसल यह सामाजिक गतिशीलता का आंदोलन था जिसके जरिए संथाल लोग वृहत्तर हिंदू जनसंख्या के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराना चाहते थे। उन्होंने हिंदू संस्कृति की विशेषताएं अपना ली और जनेऊधारी बन गए। जनेऊधारी संथालों ने अपने आपको गैर-जनेऊधारियों से अलग कर लिया और दोनों में आपस में विवाह बंद हो गए। मगर 1938 में *आदाबासी* आंदोलन ने संथाल परगना में मजबूत स्वरूप गृहण कर लिया। इस आंदोलन के तहत संथाल लोग छोटा नागपुर के मूल आदिवासियों के लिए एक पृथक प्रांत और स्कूलों में संथाली और अन्य मूल जनजातीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की मांग की। रगनाथ मुर्मु ने झारखंड आंदोलन के हिस्से के रूप में जनजातीय एकता को दर्शाने के लिए *सरना धोर्मा समलेट* शुरू किया था। यह संगठन मूल संथाली लिपि और धर्म ग्रंथों को प्रतिष्ठित करने में प्रयत्नशील रहा। अब एक महानायक भी खोज लिया गया जिसको *गुरु गोमके* कहा गया। ये गुरु खेरवाड़ बीर के मूल रचियता माने जाते हैं। खेरवाड़ बीर महाभारत के ही समान है। सिंधी और कश्मीरी जैसे भाषाई समूहों से बड़े संथाल लोग अपनी जातीय पहचान को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। मगर उनका आंदोलन भी दो गुटों में बंटा है। एक गुट ईसाई बने संथाल लोगों का है जो संथाली के लिए रोमन लिपि की मांग करता है। दूसरा गुट *अल चिकि संथाली* का समर्थक है। झारखंड आंदोलन के नेताओं ने इन मतभेदों को दबाए रखने की कोशिश की ताकि पृथक राज्य की मांग को मजबूती मिल सके। संथाली को अब प्राथमिक स्कूलों में शिक्षा का माध्यम बना दिया गया है लेकिन संविधान की छठी अनुसूची में उसे अभी तक स्थान नहीं मिल पाया है।

12.7.2 मिशिंग लोगों का भाषा आंदोलन

अरुणाचल प्रदेश के सियांग और सुबंदश्री जनपदों के मूल वासी मिशिंग या मिरी लोग असम की दूसरी सबसे बड़ी अनुसूचित जनजाति हैं। इनकी संख्या लगभग तीन लाख है। मिशिंग लोगों ने अपनी पारंपरिक सीमाओं और मूल बोली की रक्षा प्रचंडता से की है। वर्ष 1968 में शिक्षित मिरी लोगों के एक समूह ने मिशिंग अगम केबंग का गठन किया। मिशिंग में इसका अर्थ मिशिंग भाषा संगठन है। इस संगठन ने अपनी भाषा के लिए रोमन लिपि को अपनाया। असम सरकार ने शुरू में मूल मिशिंग लोगों के इस आंदोलन का विरोध किया, लेकिन बढ़ते दबाव के कारण उसे अब झुकना पड़ा है। मिशिंग भाषा को प्राथमिक विद्यालयों में शुरू करने के प्रयास किए जा रहे हैं और असम सरकार सिद्धांततः मिशिंग बहुल विद्यालयों में मिशि पढ़ाने के लिए अध्यापकों की नियुक्ति के लिए सहमत हो गई है।

12.7.3 जैंतिया लोगों की जातीय-भाषाई अपेक्षाएं

खासी जनजातीय लोगों द्वारा बोली जाने वाली खासी भाषा को जब स्कूलों में शिक्षा का माध्यम बना दिया गया तो 1975 में गठित जैंतिया भाषा और साहित्य संगठन भी सक्रिय हुआ। रोमन लिपि में लिखी जाने वाली जैंतिया भाषा को जैंतिया भाषी लोगों का छोटा सा समूह ही बोलता है। संगठन को लगा कि उनकी भाषा इसी दायरे में सिमट के रह जाएगी इसलिए उसने अपनी भाषाई पहचान को प्रतिष्ठित करने का प्रयास आरंभ कर दिया। यह संगठन जैंतिया भाषा में नियमित रूप से साहित्यिक सम्मेलन आयोजित करता है, वादविवाद को बढावा देता है और निबंध लेखन प्रतियोगिताओं का आयोजन करता है। यह जैंतिया भाषा में साहित्यिक रचनाओं का प्रकाशन भी करता है।

स्वतंत्र भारत में अनेक जनजातीय पुनर्जागरण आंदोलन हुए हैं। आदिवासी हितों की ओर इसलिए ध्यान नहीं दिया गया कि आदिवासी लोग एक शक्तिशाली दबाव समूह नहीं थे। हम कह सकते हैं कि विकास और वंचना दोनों को जातीय-भाषाई आंदोलनों को गति देने का श्रेय जाता है। साक्षरता, गतिशीलता, राजनीतिक भागीदारी जैसे कुछ महत्वपूर्ण कारकों ने लोगों में अपनी विशिष्ट पहचान के प्रति जागरुकता पैदा कर दी है। आंचलिक स्वायत्तता की आकांक्षाएं राजनीतिक चेतना के स्तर से सीधी जुड़ी होती हैं। अलग गोरखालैंड, बोडोलैंड, झारखंड जैसी मांगों ने जो मुद्दे उठाए हैं वे इसी दिशा में संकेत करते हैं। ये आंदोलन भारतीय राष्ट्र राज्य के संघीय ढांचे में अधिक स्वायत्तता और आंचलिक सत्ताधिकार प्राप्त करने के प्रयत्न हैं। मिजो यूनियन (1946), नागा नेशनल काउंसिल (1946), ईस्टर्न ट्राइबल काउंसिल (1952), एपीएचएलसी (1960) जैसे जनजातीय संगठनों के उदय को व्याख्या मध्यम वर्गीय आंदोलनों के रूप में की जाती है। मिजो फ्रीडम मूवमेंट (1940), मिजो नेशनल फ्रंट (1961) जैसे संगठन अपनी मांग को उठाने में राजनीतिक रूप से अधिक प्रखर थे।

बोध प्रश्न 2

1) पंजाबी सूबा आंदोलन क्या था? इसके बारे में पांच से दस पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) एक उदाहरण देकर पांच से दस पंक्तियों में जनजातीय भाषाई आंदोलनों के बारे में समझाइए।

....

....

....

....

....

12.7.4 भाषा और संस्कृति

अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए नेतृत्व भाषा और संस्कृति के मुद्दों को साथ लेकर चलता है। इसके फलस्वरूप अक्सर सामूहिक पहचान बन जाती है। यही सामूहिक पहचान और एकात्मकता प्रतिष्ठित होकर एक पृथक क्षेत्रीय इकाई की मांग में परिवर्तित हो जाती है। गोरखाली, कुमराली और संथाली भाषाओं का एक कार्याधार के रूप में विलय और झारखंड आंदोलन इस स्थापना का एक अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार खसकुरा, जिसे जीएनएलएफ ने गोरखाली भाषा की मान्यता दे दी है, नेपाली मूल की विभिन्न बोलियों का एक मिश्रण है। इसी तरह कुरमाली और कुरुली शुरू में मौखिक बोलियां थीं जिन्हें झारखंड आंदोलन के दौरान ही अपनी लिपि मिली और दोनों को एक किया गया। यहां एक बात महत्वपूर्ण है कि क्षेत्रीय आंदोलनों को अक्सर नकारात्मक और विभाजनकारी माना जाता है। मगर इस वास्तविकता को समझने का प्रयास नहीं किया जाता इन क्षेत्रीय भाषाई आंदोलनों ने ही अभी तक सिर्फ मौखिक परंपराओं में ही उपलब्ध समृद्ध विरासत को एक ठोस स्वरूप दिया है।

12.8 भाषा आंदोलन के मूल कारण

प्रत्येक जातीय-भाषाई समुदाय अपने इर्दगिर्द एक सुरक्षा कवच बनाने का प्रयास करता है। अपनी विरासत को लुप्त होने से बचाने का बीड़ा वह खुद उठाता है। उसे अगर कोई खतरा महसूस होता है तो वह संगठित होकर विरोध आंदोलन छेड़ देता है। जातीयता की अभिव्यक्ति के रूप में क्षेत्रीय भाषाई आंदोलन तभी खड़े होते हैं जब उन्हें निम्न कारणों से अपनी अस्मिता को खतरा हो जाए:

i) राजकीय भाषा के रूप में हिंदी को मान्यता मिलना। छोटे भाषाई समुदायों में यह आशंका घर कर गई कि सरकार के इस कदम से उनके समुदाय के सदस्यों को सरकारी नौकरियां मिलने की संभावनाएं कम हो जाएंगी। इसके फलस्वरूप सरकारी मामलों में उनकी आवाज नहीं सुनी जाएगी।

ii) सत्ता पर काबिज मध्यम वर्ग के अभिजात लोगों ने सरकारी कामकाज में अंग्रेजी के प्रयोग को जारी रखने की पैरवी की। इस द्विभाषावाद के चलते सरकारी नौकरी के अवसर उन लोगों के लिए और संकुचित हो गए जो सिर्फ हिंदी या अंग्रेजी भाषा जानते थे।

iii) इसके फलस्वरूप उत्तर-दक्षिण के बीच विभाजन की खाई पैदा हो गई क्योंकि आजादी के बाद के नेतृत्व ने अपने आपको अमूमन उत्तरी भारत के साथ ही जोड़कर रखा। इसका मुख्य कारण यह था कि एक अकेले राज्य के विशाल आकार के कारण हिंदी के साथ इसके जुड़ाव को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया गया। दक्षिण भारत में हिंदी विरोधी आंदोलन हिंदी के प्रभुत्व को आर्यों और ब्राह्मणवादी सांस्कृति वर्चस्व के प्रतीक के रूप में देखता है।

iv) बड़े-बड़े दावों और संविधान के अनुच्छेद संख्या 350, 29.1, 344(I), 345, 346 और 347 के अंतर्गत भाषाई अल्पसंख्यकों और भाषाओं को सुरक्षा का प्रावधान होने के बावजूद अल्पसंख्यकों की भाषा संबंधी मांगों की उपेक्षा की जाती है। संविधान के अनुच्छेद 350(a) के अनुसार प्रत्येक राज्य सरकार को चाहिए की प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था मातृभाषा में करे। मगर जिला प्रशासन और शैक्षिक सशक्तीकरण के स्तर पर यह धारणा अभी तक कायम है कि इस तरह के प्रयास भारतीय राष्ट्र को तोड़ेंगे। इनसे निजी जातीय-भाषाई अपेक्षाओं को प्रोत्साहन मिलेगा और व्यक्ति मुख्यधारा से अलग-थलग पड़ जाएगा। इसके अलावा यह आशंका भी रहती है कि स्थानीय बोली-भाषा में शिक्षा मिलने से लोग ऊंची और अच्छी शिक्षा प्राप्त करने से वंचित हो जाएंगे। खुद संविधान में भाषा को लेकर अस्पष्टता है। इसका अनुच्छेद 350 अलग-अलग भाषाओं को सम्मान देने की बात करता है, वहीं अलग अनुच्छे 351 कहता है कि सरकारी कामकाज में हिंदी को तरजीह मिलनी चाहिए। इस तरह के अस्पष्ट और भेदभावपूर्ण प्रावधानों ने भारत में भाषाई संघर्षों को बढ़ावा दिया है।

12.9 सारांश

पिछले तीन दशकों से भारतीय राज्य को किसी भी गंभीर भाषाई संघर्ष का सामना नहीं करना पड़ा है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत के भाषाई द्वंद्वों को सफलतापूर्वक शांत कर दिया गया है। वे अब भारत की राष्ट्रीय एकता और अखंडता के लिए खतरा नहीं हैं। स्वतंत्रता के पश्चात विशेषकर 1947-1967 के दौर में अनेक भाषायी संघर्ष हुए। देश की काफी राजनीतिक ऊर्जा इन्हीं विवादों को सुलझाने में चुक गई। आज भी इस मुद्दे पर हिंसा की छिटपुट घटनाएं होती रहती हैं। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश की तत्कालीन सरकार ने जब उर्दू को दूसरी राजभाषा का दर्जा दिया तो प्रतिक्रिया में 28 सितंबर 1989 को बदायूं में सांप्रदायिक दंगा भड़क उठा। भाषा और जातीयता में घनिष्ठ संबंध है। भाषा को जातीय एकता का प्रतीक माना जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिकीकरण की शक्तियों और स्पर्धी समाज की कठोर अपेक्षाओं और आवश्यकताओं ने निजी मातृभाषा की प्रकार्यात्मक महत्ता को कमजोर कर दिया है, मगर सामुदायिक विशिष्टताओं के रूप में उनका महत्व अब भी उतना ही ज्यादा है। भाषा के मुद्दों को लेकर राज्य का हस्तक्षेप बहुत कम रह गया है। असल में सामंजस्य की नीति इस

मामले में बड़ी कारगर साबित हुई है। लेकिन अंत में यहां एक सावधानी बरतने की जरूरत है जैसा कि रॉबर्ट डीकिंग ने स्पष्ट कहा है, "भाषाई समस्याएं वैसी नहीं होती जिस रूप में वे हमें दिखाई देती हैं बल्कि वे अक्सर उन इरादों या एजेंडों को छिपाने के लिए छद्मावरण का काम करती है जिनका भाषा और भाषा विज्ञान से बड़ा कच्चा संबंध होता है"।

यह तो सिद्ध हो ही चुका है कि दक्षिण भारत में भाषाई आंदोलन जाति वर्चस्व और शोषण की प्रतिक्रिया में हुए थे। इसी प्रकार पंजाबी सूबा आंदोलन की जड़ें सिख पहचान में थीं। इसी तरह जनजातीय भाषाई आंदोलन के मूल में जातीयता, पहचान और अस्मिता के सवाल जुड़े थे। भाषायी जातीयता से हालांकि भारत को कोई खतरा नहीं है मगर जातीय रचना में इसकी सक्रिय स्थिति को कभी अनदेखा भी नहीं किया जाना चाहिए।

12.10 शब्दावली

जातीयता : लोगों की एक विशिष्ट श्रेणी है जिन्हें हम उनकी संस्कृति, धर्म, नस्ल या भाषा के आधार पर अलग पहचान सकते हैं।

भाषाई : इसका संबंध लोगों के एक वर्ग विशेष की भाषा से है जिसके क्षेत्र विशेष की संस्कृति के लिए निहितार्थ होते हैं।

आधुनिकीकरण : यह ऐसी प्रक्रिया है जिसके जरिए कोई संस्कृति या समाज सामाजिक और प्रौद्योगिकी की दृष्टि से अधिक उन्नत होता है जिसमें समाज के कई तबकों के लिए बेहतर आजीविका सुनिश्चित रहती है।

12.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बार्नेट, रॉस मारगरेट, 1976: *द पॉलिटिक्स ऑफ कल्चरल नेशनलिज्म इन साउथ इंडिया;* न्यू जर्सी, प्रिंस्टन यूनि. प्रेस

गुप्ता, आर.एस., ऐविटा अब्बी, कैलाश, एस. अग्रवाल (संपा.) 1995, *लैंग्वेज ऐंड द स्टेट: पर्सपेक्टिव ऑन द ऐड्थ शेड्यूल,* नई दिल्ली, क्रिएटिव बुक्स

किंग, रॉबर्ट डी. 1997 *नेहरू ऐंड लैंग्वेज पॉलिटिक्स* इन इंडिया, दिल्ली, ऑक्सफर्ड यूनि. प्रेस

कृष्णा सूरी, 1991, *इंडियाज लिविंग लैंग्वेज,* नई दिल्ली, एलाएड पब्लिशर्स

उर्सचिक यूजीन, 1969, *पॉलिटिक्स ऐंड सोशल कनफ्लिक्ट इन साउथ इंडिया: द नॉन ब्रालिनिकल मूवमेंट ऐंड तमिल सेपरेशन* बर्कले, यूनि ऑफ कैलीफोर्निया प्रेस।

12.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाषाई सीमाओं के अनुरूप राष्ट्र-राज्यों की अवधारणा का जन्म 19वीं सदी में हुआ। मगर भारत में इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया गया। भारत की स्वतंत्रता से पहले राज्यों की सीमाएं भाषाई सिद्धांत पर नहीं चलती थीं। स्वतंत्रता के बाद भाषा का मुद्दा और राज्यों के पुनर्गठन पर गंभीरता से विचार हुआ। मगर यहां यह बात ध्यान रखी जानी चाहिए कि राज्यों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन के मूल में जातिगत और सामुदायिक अकांक्षाएं भी निहित थीं ताकि वे अपनी स्थिति को बेहतर बना सकें। आज के भारत में अनेक राज्य ऐसे हैं जिनका गठन भाषा के आधार पर हुआ था और जो राज्य के भीतर काम-काज चलाने के लिए अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं।

2) भारत में उत्तर और दक्षिण के बीच भाषाई जातीयता विभाजन सदियों पुराना है। उर्सचिक के अनुसार इसकी जड़ें जातिगत राजनीति में विद्यमान हैं। द्रविड़ कड़गम के नेताओं में जब स्वतंत्रता दिवस को लेकर मतभेद उभरे तो कुछ नेताओं ने उससे अलग होकर डीएमके (द्रविड़ मुनेत्र कड़गम) का गठन किया। कालांतर में डीएमके ने तमिल साहित्य को जोड़ा और तमिल चेतना को जागृत करने कि लिए तमिल भाषा में पुस्तकें, पार्टी-पत्र और पत्रिकाएं छापीं। डीएमके की विचारधारा समूचे मद्रास में फैली। वर्ष 1965 के आते-आते भाषा के मुद्दे में छात्र राजनीति प्रवेश कर गई। क्षेत्रीय पहचान ने जोर पकड़ लिया और राजनीतिक बहकावे में आकर छात्रों ने इस मुद्दे पर आत्मदाह किए। डीएमके के नेताओं ने हिंसा की खुले में भर्त्सना की मगर भाषा के मुद्दे पर छात्र हिंसा को वह समर्थन देती रही। इस आंदोलन के परिणामस्वरूप भाषा और केन्द्र तथा राज्य में उसके प्रयोग को लेकर एक सरकारी नीति बनी।

बोध प्रश्न 2

1) पंजाबी सूबा आंदोलन एक पंजाबी भाषी राज्य की स्थापन के लिए हुआ था। इसकी मांग सबसे पहले 1919 में उठी थी और जो 1947 में भारत के स्वतंत्र होने के बाद भी जा रही। सिख राज्य के बजाए पंजाबी भाषी राज्य की सलाह डॉ. भीमराव अंबेडकर ने दी थी। उनका कहना था कि पंजाबी भाषा के जरिए पंजाबी सूबा के नाम से एक सिख राज्य बनाया जा सकता है। वर्ष 1966 में पंजाब राज्य को पंजाब और हरियाणा में विभाजित कर दिया गया।

2) जनजातीय लोगों में साक्षरता के बढ़ने से उनमें अपनी जातीय विशिष्टताओं की चेतना भी बढ़ी। उदाहरण के लिए जैंतिया लोगों ने 1975 से साहित्य गोष्ठियों और साहित्यिक कृतियों का प्रकाशन करके अपनी जातीयता को प्रतिष्ठित किया। साहित्यिक गतिशीलता और राजनीतिक भागीदारी के माध्यम से उन्होंने अपनी विशिष्ट जातीय पहचान को स्थापित किया।

संदर्भ

कोनर, डब्लू. (1978) "एथनो-नेशनल वर्सस अदर फार्म्स ऑफ ग्रुप आइडेंटिटी: द प्रॉब्लम ऑफ टर्मिनॉलजी", एन. रुडी (संपा०) इंटरग्रुप एकोमोडेशन इन प्लुरल सोसाइटीज, लंदन, मैकमिलन

कोर्नेल, स्टीफन और डगलस हटमैन, (1998) *एथनिसिटी ऐंड रेस : मेकिंग आइडेंटिटीज इन ए चेंजिंग वर्ल्ड*, नई दिल्ली, पाइन फोर्ज प्रेस

डोलार्ड जे. (1937) *कास्ट ऐंड क्लास इन ए सदर्न टाउन*,न्यू यार्क, डबलडे

आइजनस्टैड, एस.एन. (1973) *कास्ट ऐंड क्लास इन ए सदर्न टाउन*, न्यू यार्क, डबलडे

फर्निवाल, जे. एस.(1973) *ट्रेडिशन, चेंज ऐंड मॉडर्निटी*, न्यू यार्क, जॉन वाइले ऐंड ऐंस

फर्निवल,जे-एस., (1942) "द पॉलिटिकल इकोनॉमी ऑफ द ट्रॉपिकल फार ईस्ट," *जनरल ऑफ द रॉयल सेंट्रल एशियन सोसाइटी*, 29, 195, 210

गैस्टिल, आर.डी. (1978), "द राइट टु सेल्फडिटर्नमिनेशन : डेफिनिशन, रिएलिटी ऐंड आइज्यिल पॉलिसी" ,‌ एन. रूडी(संपा०) *इंटरग्रुप एकोमोडेशन इन प्लुरल सोसाइटीज* लंदन मैकमिलन

गीत्ज. सी., (संपा०) 1963 *ओल्ड सोसाइटीज ऐंड न्यू स्टेटस*, न्यू यॉर्क, फ्री प्रेस

गेलजर, अर्नेस्ट (1983) *नेशंस ऐंड नेशनलिज्म इथैका*, कोर्नेल यूनि० प्रेस

ग्लेजर, नैथन (1975) *एफर्मेटिव डिस्क्रिमिनेशन: एथनिक इनइक्वैलिटी ऐंड पब्लिक पॉलिसी*, न्यू यार्क, बेसिक बुक्स

हेडन, जी०, (1983) *नो शॉटकट्स टु प्रोगेस*, लंदन, हाइनमैन

केर, क्लार्क *एट ऑल* (1960) इंडस्ट्रियलाइजेशन ऐंड इंडस्ट्रियल मैन: द प्रॉब्लम ऑफ लेबर ऐंड मैनेजमैंट इन इकॉनमिक ग्रोथ, मैसाचुसेट्स, हारवर्ड यूनि० प्रेस

कूपर एल और एम. जी. स्मिथ (संपा.) 1969 *प्लुरलिज्म इन अफ्रीका*, बकेले, यूनि० ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस

मैकक्रोन, आई. डी. (1937) *रेस ऐटीट्यूड्ज इन साउथ अफ्रीका: हिस्टोरिकल, एक्सपेरिमेंटल ऐंड साइकोलाजिकल स्टडीज*, लंदन, आक्सफर्ड यूनि० प्रेस

मर्फी, एम. डब्लू. (1986) "एथनिसिटी ऐंड थर्ड वर्ल्ड डेवेलपमेंट: पॉलिटिकल ऐ ऐकेडेमिक कनटेक्ट्स" जे. रेक्स ऐंड डी. मेसन (संपा०) *थ्योरीज ऑफ रेस ऐंड एथनिक रिलेशंस*, कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनि० प्रेस

ऊमेन, टी. के., (संप) 1990, *स्टेट ऐंड सोसाइटी इन इंडिया: स्टडीज इन नेशन बिल्डिंग*, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशंस

ऊमेन, टी. के. (संपा) 1997 *सिटिजनशिप ऐंड नेशनल आइडेंटिटी: फ्रॉम कोलोनियलिज्म टु ग्लोबल्जिम*, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशंस

पैटरसन, ओ. 1953, *कलर ऐंड कल्चर इन साउथ अफ्रीका*, लंदन, राउटलेज एंड केगन पॉल

रोस्टो, डब्लू.डब्लू (1960), *द स्टेजेज ऑफ इकोनॉमिक ग्रोथ*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस

सभरवाल, एस. (1992) *"एथनिसिटी: क्रिटिकल रिव्यू ऑफ कनसेप्शंस ऐंड पर्सपेक्टिव्ज" सोशल साइंस रिसर्च जरनल* (1 और 2) मार्च-जुलाई

शर्मा, एस. एल. (1990) "द सैलिएंस ऑफ एथनिसिटी इन माडर्नाइजेशन: एविडेंस फ्रॉम इंडिया" *सोशियोलोजिकल बुलेटिन* 30 (1 और 2) सितंबर

शर्मा, एस.एल. (1996) " एथनिक सर्ज फॉर पॉलिटिकल ऑटोनॉमी : ए केस फॉर ए कल्चरल रेस्पोंसिव पॉलिसी," ए० आर. मोमिन (संपा) *'द लिगेसी ऑफ जी.एस. घुर्ये: ऐ सेन्टिनियल फेस्ट स्क्रिफट*, मुंबई, पॉपुलर प्रकाशन,

स्मिथ, एम. जी (1965), *द प्लुरल सोसाइटी इन द ब्रिटिश वेस्ट इंडीज*, केलिफोर्निया, कैलिफोर्निया यूनि० प्रेस

वालरस्टीन, आई. (1986)"सोसाइटल डेवेलपमेंट ऑफ डेवेलपमेंट ऑव द वर्ल्ड सिस्टम?" *इंटरनेशनल सोशियॉलजी* (1)

चानना, एस. 1994 *अंडरस्टैंडिंग सोशियोलॉजी, कल्चर एंड चेंज*, नई दिल्ली, ब्लेज पब्लिकेशन

चिब, एस.एस., 1984, *कास्ट, ट्राइब्ज ऐंड कल्चर ऑफ इंडिया* खंड 8, नई दिल्ली, एसएस पब्लिकेशंस

डी.आर. मांकेकर, 1972 "ए प्ती फॉर पॉलिटिकल मोबिलिटी" मृणाल मिरी (संपा.) *कंटिन्यूइटी ऐंड चेंज इन ट्राइबल सोसाइटी*, शिमला, इंडियन इंस्टीट्यूट फॉर एडवांस स्टडीज
जाजा वर्जीनिया, 1999, *ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ ट्राइब्ज इन इंडिया: टर्म्स ऑफ डिस्कोर्स*, ईपीडब्लू, जून 12, पश्र. 1520-1524

डोले, डी. 1998; "ट्राइबल मूवमेन्ट्स इन नॉर्थ-ईस्ट" के.एस. सिंह (संपा.) *ट्राइबल मूवमेंट्स* इन इंडिया, ट्राइबल स्टडीज ऑफ इंडिया सिरीज टी 183 एंटिक्विटी टु माडर्निटी इन ट्राइबल इंडिया, खंड IV

दुबे, एस.सी. (संपा.) 1977 *ट्राइबल हेरिटेज ऑफ इंडिया*, नई दिल्ली, विकास पब्लिकेशंस

एल्विन, वेरियर, 1959, *ए फिलॉसफी फॉर नेफा*, शिलांग, नेफा

गोस्वामी, बी.बी. और डी.पी. मुखर्जी, 1992 "मिजो पॉलिटिक मूवमेंट", के.एस. सिंह (संपा.) ट्राइबल मूवमेंट्स इन इंडिया (खंड I) नई दिल्ली मनोहर (पृ. 129-150)

हैमनडॉर्फ, क्रिस्टोफर वॉन फ्यूरर, 1982 *ट्राइब्ज ऑफ इंडिया: स्ट्रगल फॉर सरवाइवल*, दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रेस

कैबुई, गैंगुमेर, 1983 "इंसर्जेंसी इन द मणिपुर वैली" बी.एल. अब्बी (संपा.) नॉर्थ-ईस्ट रीजन: प्रॉब्लम्स एंड प्रॉस्पेक्ट्स ऑफ डेवलपमेंट, चंडीगढ़, सीआरआरआइडी पब्लिकेशंस

कैबुई, गैंगुमेर, 1982 "द जेलियांग्रांग मूवमेंट: ए हिस्टॉरिकल स्टडी" के.एस. सिंह (संपा.) *ट्राइबल मूवमेंट्स इन इंडिया* (खंड I) नई दिल्ली, मनोहर (पृ 53-67)

मुखर्जी, बाबानंद और के.एस. सिंह 1982 ट्राइबल मूवमेंट्स इन त्रिपुरा" के.एस. सिंह (संपा.) ट्राइबल मूवमेंट्स इन इंडिया (खंड I) नई दिल्ली, मनोहर (पृ 67-97)

पुरी, रक्षत 1972; टुवार्ड्स सिक्योरिटी इन द नॉर्थ-ईस्ट: ट्रांसपोर्टेशन ऐंड नेशनलिज़्म (पृ. 72-97) के. एस. सिंह (संपा) ट्राइबल सियुएशन इन इंडिया

राव, सी. नागार्जुन, 1983 ऋ"क्राइसिस इन मिजोरम" बी.एल. अब्बी (संपा.) नॉर्थ-ईस्ट रीजन: प्रॉब्लम्स ऐंड प्रॉस्पेक्ट्स ऑफ डेवलपमेंट, चंडीगढ़, सीआरआरआइडी पब्लिकेशंस (पृ. 240-248)

सिन्हा, ए.सी. 1998 भूपिंदर सिंह (संपा.) "सोशल स्ट्रैटिफिकेशन एमंग द ट्राइब्ज ऑफ नॉथ-ईस्टर्न इंडिया" में (पृ. 197-221)

श्रीनिवास, एम.एन., और आर.डी० सनपाल 1972; "सम आस्पेक्ट्स ऑफ रोहसेल डेवलपमेंट इन नार्थ-ईस्ट हिल एरिया ऑफ इंडिया"

थंगा, एल.बी. 1998, "चीफशिप इन मिजोरम" भूपिंदर सिंह (संपा.) ट्राइबल सेल्फ-मैनेजमेंट इन नॉर्थ-ईस्ट इंडिया, ट्राइबल स्टडीज इन इंडिया सिरीज टी. 183 एंटिक्विटी टु मॉडर्निटी, ट्राइबल इंडिया खंड II (पृ. 247-274)

वर्गीज, बी.जी. 1994, *इंडियाज नॉर्थ-ईस्ट रिसर्जेंट*, नई दिल्ली, कोनार्क

जोशी, सी. (1984) *भिंडरांवाले मिथ ऐंड रियलिटी*, दिल्ली, विकास

समीउद्दीन, ए. (1985) *पंजाब क्राइसिस: चेलैंज ऐंड रेस्पांस*

शर्मा, एस.एल., (1996) "एथनिक सर्ज फॉरं पॉलिटिकल ऑटोनॉमी: ए केस फॉर कल्चर-रस्पांसिव पॉलिसी ए.आर. मोमिन (संपा). द *लीगेसी ऑफ जी.एस. घुरये: ए सेन्टीनियल फेस्टस्क्रिफ्ट*, मुंबई, पॉपुलर प्रकाशन में सोलोर, डब्लू. (1996) *थ्योरीज ऑफ एथिनिसिटी: ए क्लासिकल रीडर*, लंदन, मैकमिलन